श्री भागवत-दर्शन
भागवती कथा
१७ वाँ
खण्ड
लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

To. Bishnu Das Malu.
Pin- 742133.

श्री भागवत-दर्शन ॐ

भागवती कथा

(खण्ड १७)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य रु० ३

चतुर्थ संस्करण
१००० प्रति

चैत्र कृष्णा २०२९
मार्च १९७३

मूल्य २) रु०

मुद्रक-बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

हमारी नयी पुस्तक–

भागवत चरित-संगीत सुधा

स्वरकार

बंशीधर शर्मा, 'भागवत चरित व्यास'

भारतवर्ष के अनेकों स्थान से लोग पूज्यपाद श्री ब्रह्मचारीजी महाराज के दर्शनों के लिये आते रहते हैं। दर्शन के साथ इच्छा होती है, कि श्री महाराज जी के मुखारविन्द से अमृतमयी कथा का श्रवण करें। आश्रम पर नित्य नियम से कथा, कीर्तन और पाठ होते रहते हैं। जो भी एक बार भागवत चरित को सुन लेता है, उसकी इच्छा होती है इसे बार-बार सुनें, किन्तु सुनें कैसे जब तक ताल स्वर बाजा तबला पर गाने वाले न हों रस नहीं आता। जिन लोगों ने धुनि नहीं सुनी उनके लिये यह नवीन राग है। अतः बहुत दिनों से लोगों के समाचार आते रहे कि भागवत चरित को शास्त्रीय संगीत में लिपिबद्ध कराके छपवा दीजिये। उसी आधार पर यह 'भागवत चरित-संगीत सुधा' तैयार की गई है। आशा है भागवत चरित पाठक इस पुस्तक से लाभ उठावेंगे। मूल्य १) रुपया।

—व्यवस्थापक

विषय-सूची

Bishnu Das Malu.
Pin-742133.

गुरुत्यक्त देवों की असुरों द्वारा पराजय

[३८३]

तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्व आश्रित्यौशनसं मतम्।
देवान्प्रत्युद्यमं चक्रुर्दुर्मदा आततायिनः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ७ प्र० १८ श्लो०)

छप्पय

गुरु गृह गमने इन्द्र बृहस्पति तहाँ न पाये।
अन्तर्हित गुरु भये देव अतिशय घबराये॥
सुर गुरु त्यागे असुर प्रीत हियमहँ अति छाई।
स्वर्ग विजय के हेतु, सुरनि पै करी चढ़ाई॥
शुक्राचार्य सहाय तें, गुरुप्रिय सुररिपु बढ़ि गये।
गुरुद्रोही सुर संघ पै, अस्त्र शस्त्र लै चढ़ि गये॥

संसार में कोई भी घटना ऐसी नहीं है, जो सुखकर न हो। सभी घटनाओं से किसी न किसी को किसी प्रकार का सुख अवश्य मिलता है। क्योंकि सुख के बिना कोई जीवित नहीं रह सकता। किसी पुरुष का इकलौता पुत्र मर गया है, वह दिन भर उदास बना रहता है, हँसता बोलता नहीं, आँसू बहाता

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब असुरों ने यह बात सुनी कि बृहस्पतिजी ने देवताओं को त्याग दिया है, तो उन मदोन्मत्त और आततायी असुरों ने शुक्राचार्य की सम्मति से देवताओं के ऊपर लड़ाई के निमित्त चढ़ाई कर दी।"

रहता है। कोई उससे इस स्थिति को छोड़ने को कहे, तो उसे बुरा लगता है, दुःख होता है, वह बार-बार कहता है, मुझे इसी प्रकार पड़ा रहने दो, मुझे चुपचाप पड़े रहने में बड़ी शान्ति मिलती है। रो लेने से मेरा चित्त हलका हो जाता है। अर्थात् उस समय उसे उसी अवस्था में रहने से आनन्द मिलता है। एक आदमी अपने शत्रु को पराजित करता है। तो उसकी पराजय में उसे सुख होता है। पराजित पुरुष को दुःख होता है, कि सम्भव है, फिर हम इसे पराजित कर सकें। पराजय में भी सुख है और जय में भी सुख है, केवल पात्र का भेद है। कोई वस्तु किसी ने सुखकर मान ली है, किसी ने दुःखकर। ज्ञानी के लिये दोनों समान हैं, उसके लिये सुख दुःख दोनों बराबर हैं। अभिमान से हमने सुख-दुख की कल्पना करली है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इन्द्र को अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने अपने को धिक्कारा, इसी बीच में भगवान् बृहस्पति अपने घर से निकलकर योगबल से अन्तर्धान हो गये। इन्द्र ने स्वयं बहुत ढूँढ़ा, देवताओं से ढुँढ़वाया, किन्तु जब स्वयं गुरु ही प्रकट न होना चाहें, तो शिष्य अपने पुरुषार्थ से उन्हें कभी भी खोज नहीं सकता। उन्हें ढूँढ़ लेना साधारण काम नहीं है। अब इन्द्र को एक चिन्ता हुई। अब तक तो हम गुरुदेव की छत्रछाया में रहने से शत्रुओं से अपने को सुरक्षित् समझते थे। अब हमारे सिरों से गुरुदेव ने अपना वरदहस्त खींच लिया, अब हम गुरुकृपा से हीन हो गये। जो गुरुकृपा से रहित है वह शत्रुओं के प्रहार से कभी बच ही नहीं सकता। अतः अब हमें अपनी रक्षा का उपाय सोचना चाहिये। इस प्रकार देवताओं से परामर्श करते हुए इन्द्र अत्यन्त चिन्तित दिखाई देते थे। अनेक उपाय सोचने पर भी वे अपनी बुद्धि से कुछ निश्चय न कर सके, क्योंकि उनका चित्त अत्यन्त अशान्त हो रहा था।

असुरों के गुप्तचर तो सदा देवताओं के छिद्रों को देखते ही रहते थे। वे बड़ी सावधानी से इस बात की खोज करते रहते थे, कि देवताओं में किधर से निर्बलता है, कैसे हम इन पर प्रहार करके विजय प्राप्त कर सकते हैं। चरों ने जब जाकर दैत्यों की सभा में ये सब बातें विस्तार के साथ कहीं और बताया, कि देवताओं ने बृहस्पतिजी का घोर अपमान किया है। गुरु के पधारने पर इन्द्र अपने सिंहासन पर बैठे ही रहे, उन्होंने उठकर अभ्युत्थान तो पृथक् रहा वाणीमात्र से भी उनका सत्कार नहीं किया। असुर तो ऐसे व्यवहार के करने की बात तो पृथक् रही, मन से भी गुरु के प्रति ऐसा व्यवहार करने की कल्पना नहीं कर सकते। तब तो असुरों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा वे दौड़े-दौड़े अपने गुरु श्री शुक्राचार्य की शरण में गये और दूर से ही दण्डवत करके उनके चारों ओर बैठ गये।

शुक्राचार्यजी ने उन सबको प्रसन्नता और उत्सुकता के सहित अपने चारों ओर बैठा देखकर उनसे पूछा—"क्यों भाई, तुम लोग आज इतने उत्सुक क्यों हो? तुम लोग मुझसे क्या कहना चाहते हो? संकोच करने का काम नहीं, तुम्हें जो कहना हो निर्भय होकर कहो।"

अपने गुरुदेव को अनुकूल देखकर असुरों ने कहना आरम्भ किया—"गुरुदेव! हमने सुना है देवताओं के गुरु बृहस्पति ने देवताओं का परित्याग कर दिया।"

आश्चर्य के साथ शुक्राचार्य ने पूछा—"क्या बृहस्पति देवताओं को छोड़कर चले गये?"

दृढ़ता के साथ अपनी बात पर बल देते हुए असुरों ने कहा—"महाराज! बृहस्पतिजी चले ही नहीं गये, क्रुद्ध होकर, देवताओं से अप्रसन्न होकर गये हैं। क्रुद्ध होने की बात ही थी। भला जिन गुरु की कृपा से समस्त ऐश्वर्य प्राप्त है, उनकी

अवहेलना करना, उनका सम्मान न करना यह कुछ कम अपराध थोड़ा ही है। कोई मनस्वी पुरुष शिष्यों द्वारा अपमानित होकर उनके समीप नहीं रह सकता है।"

शुक्राचार्य ने संभ्रम के साथ पूछा—"देवताओं ने अपने गुरु का अपमान किया ? बात क्या हुई ?"

दैत्यों ने कहा—"महाराज ! इन्द्र को तो आप जानते ही हैं, कितना अभिमानी है। अपने ऐश्वर्य के मद में मदोन्मत्त हो गया। जब गुरुदेव आये तो उठकर उनका स्वागत सत्कार करना, मधुर वचन कहकर सिंहासन पर बिठाना, यह सब तो पृथक् रहा, उनकी ओर दृष्टि उठाकर देखा तक नहीं, वाणी मात्र से भी स्वागत नहीं किया। इसीलिये गुरुदेव बृहस्पति ने असन्तुष्ट होकर देवताओं को छोड़ दिया।"

दुःख के साथ शुक्राचार्य ने कहा—"अरे, गुरु ने देवताओं को छोड़ दिया, तो मानों उसी समय देवताओं की लक्ष्मी भी उन्हें छोड़कर चली गई। जहाँ गुरु सेवा नहीं, बड़ों के प्रति सम्मान नहीं, वहाँ राजलक्ष्मी रह ही नहीं सकती। देवता श्रीहीन हो गये, अब वे स्वर्गीय भोगों के भोगने के अधिकारी नहीं रहे। अब वे शान्ति के साथ सुखोपभोग नहीं कर सकते। गुरु का अपमान करके कोई भी शान्ति लाभ नहीं कर सकता।"

असुरों ने उल्लास के साथ कहा—"तब तो गुरुदेव ! हमें आज्ञा दीजिये, हम स्वर्ग पर चढ़ाई करें, अपने निर्बल शत्रुओं को हराकर स्वर्ग पर अपना अधिकार जमा लें।"

यह सुनकर शुक्राचार्य ने कहा—"देखो, भैया ! राजनीति में शत्रु की दुर्बलता राजा के लिये एक अत्यन्त ही प्रसन्नता की बात होती है। पड़ौसी राजा को अपने समीपवर्ती शत्रु के छिद्रों को सदा देखते रहना चाहिये, जहाँ छिद्र दीखे तत्काल उसी के आधार पर चढ़ाई करके शत्रु को परास्त कर देना चाहिये। तुम

लोगों का विचार अति उत्तम है, तुम लोग शीघ्र ही देवताओं पर चढ़ाई कर दो। अब देवताओं में कुछ सत्व नहीं रहा, अब वे तुम्हारा सामना करने का साहस नहीं कर सकते। अब यदि तुम चढ़ाई कर दोगे, तो तुम्हारी विजय निश्चय ही है, इसमें सन्देह करने की कोई बात ही नहीं।

अपने गुरुदेव की आज्ञा पाकर असुरों ने रणदुन्दुभी बजाई। समर का बाजा सुनकर सभी असुर अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर आनन्द में उछलते कूदते, किलकारियाँ मारते हुए एकत्रित हो गये, सेनापति ने सेना को एक व्यवस्था में किया। बस, फिर क्या था, असुर तो आततायी होते ही हैं, वे तो युद्ध के लिये उधार खाये बैठे रहते हैं। उन मदोन्मत्तों के लिये युद्ध से बढ़कर तो दूसरी वस्तु ही नहीं। अपने-अपने वाहनों पर चढ़-चढ़कर वे स्वर्ग की ओर चल दिये।

स्वर्ग में पहुँचकर असुरों ने अमरावती को घेर लिया। इन्द्र भी अपनी सेना को लेकर असुरों का सामना करने आये, किन्तु उनके मन में उत्साह नहीं था। गुरु कृत अपमान के कारण वे दुखित चिन्तित तथा उत्साहहीन हो रहे थे। विजय का मन्त्र है उत्साह. उत्साहहीन पुरुष की कभी भी विजय नहीं हो सकती। असुरों ने अत्यन्त ही उत्साह में भरकर देवताओं के ऊपर तीखे-तीखे बाणों की वर्षा की। असुरों के बाणों से देवताओं के ललाट मुख, ग्रीवा, वाहु, उदर, जंघा आदि समस्त अंग प्रत्यङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये। वे असुरों के प्रहारों को न सह सकने के कारण युद्ध से भाग खड़े हुए। भागते हुए देवताओं का असुरों ने पीछा नहीं किया। उन्होंने सोचा—"जो कायरों की भाँति पीठ दिखाकर युद्ध से भाग खड़े हुए हैं, ऐसे भयभीतों का पीछा करना दुर्बलता है। कायरता है। अतः असुरों ने देवताओं को भागने दिया। वे विजय का डंका बजाकर अमरावती में घुस गये और इन्द्रासन

पर अधिकार जमा लिया। जिस स्वर्ग पर कल तक देवताओं का राज्य था, आज उसी पर असुरों का राज्य हो गया। जिस ऐश्वर्य का कल तक इन्द्र उपभोग करता था उसी का आज असुर करने लगे। अप्सरायें अब उनके सामने नाचने लगीं। गन्धर्व-गण उनके गुण का गान करने लगे। यह लक्ष्मी तो चंचला है, चपला है, आज इसके समीप है, क्षणभर में दूसरे के गले में जयमाला पहिना देती है। इसे जो अपनी समझते हैं वे ठगे जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवता स्वर्ग छोड़कर भाग गये और अब स्वर्ग का ऐश्वर्य असुरों के अधीन हो गया।"

छप्पय

निरुत्साह ह्वै देव समर महँ सम्मुख आये।
किन्तु न कछु बल चल्यो तनिक लरिकें घबराये॥
मद तें ह्वै उन्मत्त असुर देवनिकूँ डाटैं।
हाथ, पैर, सिर अङ्ग कठिन बाननि तें काटैं॥
जब असुरनि की मारतें, अति व्याकुल सुरगन भये।
भागे रनकूँ छोड़ि सुर, कमलासन के ढिँग गये॥

ब्रह्माजी का पराजित देवों को उपदेश

(३८४)

अहो बत सुरश्रेष्ठा ह्यभद्रं वः कृतं महत् ।
ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत ॥
तस्यायमनयस्यासीत्परेभ्यो वः पराभवः ।
प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानां च यत्सुराः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० २१–२२ श्लो०)

छप्पय

सुनिकें सबरी बात कहें विधि भलो न कीन्हों ।
मूरखता अति करी नहीं गुरु आदर दीन्हों ॥
जाई तें तुम बली अबल असुरनि तें हारे ।
है घरबार विहीन फिरो सब मारे मारे ॥
सुखी कृपा गुरुतें दुखी, जिहि पर गुरु प्रतिकूल हैं ।
होहिँ अमङ्गल तासु कस, जाके गुरु अनुकूल हैं ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब पराजित देवता ब्रह्माजी के समीप गये तो उनसे ब्रह्माजी कहने लगे—"देवगण ! अरे भैया ! यह तो बड़े दुःख की बात है । ऐश्वर्य के मद में अन्धे होकर जो तुमने उन ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण वृहस्पतिजी का अभिनन्दन नहीं किया, यह तो बहुत ही बुरा काम किया । यही कारण है, कि तुम इतने समृद्धिशाली होकर भी अपने शक्तिहीन शत्रुओं से पराजित हो गये । जैसा तुमने किया वैसा उसका फल पाया, यह उसी अन्याय का परिणाम है ।"

अपने से कोई जान में अनजान में अपराध बन जाय तो तत्क्षण बड़ों के समीप जाकर ज्यों-का-त्यों उसे निवेदन कर देना चाहिये। पढ़ लेना पृथक् बात है और अनुभूति दूसरी वस्तु है। वृद्ध पुरुष सभी विषयों का अनुभव रखते हैं। किस समय कैसा कार्य करने से कैसा परिणाम होगा, इसका अनुभव वृद्धों को होता है। इसीलिये कहा गया है कि वह सभा सभा ही नहीं है, जिसमें वृद्ध न हों। केवल बाल पक जाने मात्र से ही कोई वृद्ध नहीं होता। अवस्था के परिपक्व होने के साथ ही जिनकी बुद्धि भी परिपक्व हो गई हो। ऐसे पुरुष जो उपाय बतायेंगे उससे सदा कल्याण ही होगा। अतः सभी को विशेषकर युवकों को वृद्धसेवी होना चाहिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवता ऐश्वर्यहीन हो गये तो उन्हें एक सद्बुद्धि सूझी। वे समझते थे हमारे अभिमान के ही कारण हमारा पराभव हुआ है। अब लोक पितामह ब्रह्मा जी को छोड़कर और कोई हमारा आश्रय नहीं। भले हैं, बुरे हैं, पापी हैं, अपराधी हैं, उन्हीं के हैं। उनकी सेवा में पहुँचकर सब निवेदन कर देना चाहिये। यह सोचकर वे अत्यन्त ही लज्जित होकर इन्द्र को आगे करके ब्रह्माजी के समीप पहुँचे। लोकपितामह को प्रणाम करके वे सिर झुकाये अत्यन्त उदास मन से उनके समीप खड़े हो गये। देवताओं को उदास देखकर ब्रह्माजी बड़े स्नेह के साथ बोले—"देवताओ! तुम लोग इतने उदास क्यों हो, तुम सबके मुख म्लान क्यों हो रहे हैं?" ब्रह्माजी की बात सुनकर अत्यन्त लज्जा के साथ देवेन्द्र ने कहा—"प्रभो! क्या बात बतावें हमसे एक बड़ा भारी अपराध हो गया है। ऐश्वर्य के मद में भर कर हमने गुरु की अवज्ञा की, उनका सम्मान नहीं किया। हमारी अविनय से असन्तुष्ट होकर गुरुदेव हमें परित्याग करके चले गये। उनके जाते ही असुरों ने हम पर चढ़ाई की,

और हमें परास्त कर दिया। स्वर्ग पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया।"

सब बात सुनकर ब्रह्मा जी ने दुःख के साथ कहा—"देवताओ! तुम तो सत्वावतार कहे जाते हो। तुम्हारा स्वभाव तो सत्वगुणी होता है। यह तुमने रज और तम में भरकर कैसा पाप कर डाला। छिः छिः बड़े दुःख की बात है। तुम लोग ऐश्वर्य के मद में अंधे हो गये थे, तो आपस में कटते मरते। तुम लोग तो सीमा का उल्लंघन कर गये। जितेन्द्रिय ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ सर्वशास्त्र पारङ्गत ब्राह्मण का, जो साधारण ब्राह्मण भी नहीं तुम सबके गुरु हैं, साक्षात् भगवत् स्वरूप हैं, उनका तुम लोगों ने अपमान किया। यह तो बड़े दुःख की बात है।"

इन्द्र ने लज्जा के साथ कहा—"अब, महाराज! हो गया सो हो गया। अब हमारा जो कर्तव्य हो, वह बतावें, हमें योग्य सम्मति दें। कोई प्रायश्चित्त बतावें उसे हम करें।"

ब्रह्माजी ने रोष के स्वर में कहा—"प्रायश्चित्त तो साधारण पाप तथा महापापों का होता है, इस पाप का क्या प्रायश्चित्त। भगवान् सब पापों को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु गुरु सन्त द्रोही को कभी क्षमा नहीं कर सकते। समस्त समृद्धियाँ गुरु कृपा से ही प्राप्त होती हैं और गुरुदेव की अकृपा होने से ही समस्त ऐश्वर्य, इहलोक तथा परलोक का सुख नष्ट हो जाता है। और पुरुष उभयभ्रष्ट बनकर नष्ट हो जाता है। अरे, तुम दूर कहाँ जाते हो। प्रत्यक्ष ही देख लो। तुम सब समर्थ थे, बली थे, ऐश्वर्यशाली थे, सतोगुणी देवता थे, गुरु का अपमान करते ही तुम्हारा समस्त सद्गुण नष्ट हो गया। समृद्धिशाली होने पर भी आज कान्तिहीन श्रीहीन होकर इधर-उधर बिना घर द्वार के पराजित हुए मारे-मारे फिर रहे हो, इसके विपरीत असुरों को देखो हिंसक हैं, सदा क्रूरकर्मों में ही रत रहते हैं। रजोगुण

तमोगुण की ही इनमें प्रधानता है। भगवान् के द्वारा पराजित होकर पाताल में निवास करते हैं। उन पर युद्धोचित अधिक सामिग्री भी नहीं, शक्तिहीन होने पर भी उन्होंने केवल अपने गुरु शुक्राचार्य की कृपा से तुम सबको मार भगाया। अब आनन्द से स्वर्ग का सुख भोग रहे हैं। वे सबके सब शुक्राचार्य के अधीन हैं, उनके शासन में रहते हैं, सब प्रकार वे उनकी सेवा करते हैं यह सब तुम्हारे अन्याय का फल है, गुरुदेव के अपमान करने का परिणाम है।"

इन्द्र ने कहा—"महाराज! वें सब तो बड़े क्रूर हैं, स्वर्ग पर ऐसे क्रूर पुरुषों का आधिपत्य न होना चाहिये।"

ब्रह्माजी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"हमने माना वे सब क्रूर हैं। सभी जानते हैं, वे दुष्ट प्रकृति के हैं, किन्तु एक बड़ा हुआ सद्गुण सभी छोटे दुर्गुणों को दबा लेता है। गुरुभक्ति, गुरु सुश्रूषा ऐसा महान् गुण है, कि उसके सम्मुख उनके सब दुर्गुण दब गये हैं। अब वे इन्द्रासन के अधिकारी बन गये हैं। यद्यपि वे पहिले तुम्हारे द्वारा परास्त होकर अवनत हो गये थे, किन्तु आज वे शुक्राचार्य की भक्तिपूर्वक आराधना करके उन्नत हो गये हैं। तुम कहते हो, वे स्वर्ग के अधिकारी नहीं, मैं तो कहता हूँ, यदि उनकी ऐसी ही बुद्धि बनी रही, तो यह बात असम्भव नहीं कि वे मेरे लोक पर भी आकर अधिकार न जमा लें। मुझे भी कहीं ब्रह्मासन से न हटा दें।"

देवताओं ने दुखित होकर कहा—"प्रभो! हम अपने अपराध को तो स्वीकार कर ही रहे हैं। अब ऐसा उपाय बताइये, कि हमारा मंगल हो, हमारे शत्रुओं का अमंगल हो, हमारा गया हुआ राज्य मिल जाय।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"अरे भैया, इन्द्र! तू

कैसी बातें कर रहा है। देख, जो गौ, गुरु और भगवान् के भक्त हैं, उनका कभी अमंगल हो ही नहीं सकता। जिन पर गुरुदेव की कृपा है, उनके लिये स्वर्गीय सुख तुच्छ हैं। स्वर्ग की बात तो पृथक् रहो, वे मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं। भगवान् यदि अप्रसन्न हो जायँ, तो पुरुष श्री गुरुदेव के चरणों में जाकर अपने दुःख को रख सकता है, गुरु की कृपा से पुनः प्रभु प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि गुरु ही अप्रसन्न हो जायँ, तो फिर किसकी शरण में जायँ। गुरुद्रोही से तो भगवान् भी डरते हैं। गुरु चाहें अपने अपराधी को क्षमा कर भी दें। भगवान् अपने अपराध करने वाले की ओर ध्यान भी नहीं देते। किन्तु गुरु के अपराधी को वे हठपूर्वक दण्ड देते हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् अपने अपराध से बढ़कर गुरु के अपराध को क्यों समझते हैं !"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! कृतघ्नता सबसे बड़ा अपराध है, जिन गुरु ने हमें संसार से तारने वाला अमोघ मन्त्र दिया है, जिन्होंने हमारे यमरोग के विनाश का बीड़ा उठा लिया है। उनके साथ द्रोह करके जीव किस गति को प्राप्त होगा। भगवान् का तो जीव पग-पग पर अपमान करता है। भगवान् समझते हैं बच्चा है। वे कभी-कभी तो अपने अपराध करने वाले पर अनायास ही प्रसन्न हो जाते हैं। इस विषय में एक दृष्टांत सुनिये।"

एक चोर था। रात्रि में कहीं चोरी करने गया, घूमता फिरता एक शिव मन्दिर में गया। संयोग की बात कि उस दिन प्रदोष था। शिवजी पर बहुत से फूल बताशे, लड्डू तथा फल आदि चढ़े हुए थे। बहुत से दीपक जल रहे थे। पूजा आदि करके सब भक्त चले गये थे। सून सान स्थान था। चोर ने पहिले तो जाकर मेवा तथा फलों पर हाथ मारा, लड्डुओं को उड़ाया और

फिर चारों ओर देखने लगा। चोरी के लिये और तो कोई वस्तु उसे दिखाई दी नहीं। भगवान् की पिंडी के ऊपर लोहे की सांकल में एक बड़ा भारी घण्टा लटक रहा था। चोर ने सोचा—यदि यह घण्टा किसी प्रकार मिल जाय, तो यही दस–बीस रुपये में बिक सकता है।"

घण्टा ऊँचा था, वहाँ तक हाथ पहुँचता नहीं था। शिवजी की पिंडी बड़ी और विशाल थी। उसने सोचा—"इस पिंडी पर चढ़कर इसे उतार लें।"

यह सोचकर वह दोनों पैर शिवलिंग पर रखकर खड़ा हो गया और उस घण्टे को उतारने लगा। कितना भारी अपराध उसने शिवजी का किया। किन्तु भगवान् आशुतोष तो औघड़-दानी ही ठहरे, पता नहीं किस काम से किस पर वे कब ढुर जायँ। उस चोर के कार्य से वे अप्रसन्न होने के स्थान में प्रसन्न हो गये और उससे वरदान माँगने के लिये कहा।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"महाराज! चोर ने कौन-सा कार्य किया था। शिवजी उसकी किस सेवा से प्रसन्न हुए। उसने तो उल्टा उनके श्रीअंग पर पैर रखकर घोर अपराध किया था।"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! भगवान जीवों के अपने प्रति किये अपराधों की ओर ध्यान ही नहीं देते। यदि वे इन अपराधों पर ही अप्रसन्न हुआ करते, तो समस्त नास्तिकों की जिह्वा काट-काट कर उन्हें गूँगा बना देते। भगवान् के प्रति जीव कितना भारी अपराध कर रहा है, जिन भगवान् ने इतना सुन्दर शरीर दिया, उनका चिन्तन न करके अहर्निशि विषयों का चिन्तन करता रहता है। उस चोर ने फल, बतासे, लड्डू छाँटने के लिये शिवजी के ऊपर के बेलपत्र हटाये थे। एक तो यह सेवा हो गई, दूसरे वह अपने सम्पूर्ण शरीर का बोझ

रखकर शिवजी पर चढ़ गया। शिवजी ने सोचा—"देखो, यह कैसा भक्त है, वह लखपती सेठ आया था, एक पैसा चढ़ा गया। वह मोटी माई कितने धन की स्वामिनी है, किन्तु एक घिसी हुई पाई और सड़ी हुई सुपारी आज प्रदोष के दिन मेरे ऊपर चढ़ाकर पुत्र, पौत्र, धन, वैभव न जाने क्या-क्या माँग गई थी। इस बिचारे ने अपना सम्पूर्ण शरीर मेरे ऊपर चढ़ा दिया और माँगा क्या ? मेरी प्रसादी अल्पमूल्य का घण्टा। इससे बढ़कर त्यागी भक्त कौन होगा ? ऐसा सोचकर शिवजी ने उसे अपना गण बना लिया। वह पशुपति का प्रिय पार्षद बन गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह तो शिवजी की अपने अपराध करने वालों के प्रति कृपा है, अब गुरुद्रोही को वे कैसे दंड देते हैं, इस विषय में भी मैं आपको एक बड़ी ही रोचक कथा सुनाऊँगा। उसे आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

निज अपराधी जानि करैं हरि छमा जीवकूँ।
कहु पौरुष तें जीव तुष्ट कस करे शीवकूँ॥
कृपा सिन्धु भगवान् कौन पै कब ढुरि जावें।
कब कापै करि कृपा अनुग्रह रस बरसावें॥
दुष्ट दैत्य भगवान् कूँ, परुस बचन नितई कहें।
गिनें न तिनके दोष कूँ, अज्ञ जानि सब कछु सहें॥

गुरुद्रोही का कल्याण गुरुकृपा के बिना नहीं

[३८५]

मघवन् द्विषतः पश्य प्रक्षीणान् गुर्वतिक्रमात् ।
सम्प्रत्युपचितान्भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः ॥१

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

सबको ई निस्तार करें हरि छमा सबनिकूँ ।
किन्तु न पशुपति करें छमा खल गुरु द्रोहिनिकूँ ॥
हरि रूठें तो चरन शरन गुरुकी नर आवें ।
गुरु रूठें तो कहहु जीव किहि के ढिँग जावें ॥
जे तन मन धन आदि तें, गुरुसेवा नितई करें ।
प्रभु पद पावें प्रेम तें, भवसागर छिनमहँ तरें ॥

संसार में एक से एक उपकार करने वाले हैं। बहुत से पुरुष अपने गुरुतर स्वार्थों का परित्याग करके दूसरों का उपकार करते हैं। रक्त और पसीना एक करके पैदा किये हुए धन को दुखियों को देकर, भूखों को अन्न देकर, रोगियों को अमूल्य औषधि, पिपासितों को पानी देकर, शीतार्तों को वस्त्र और ईंधन देकर उपकार

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पराजित असुरों को समझाते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—"हे मघवन् ! तुम अपने असुर शत्रुओं को ही देखो। पहिले वे लोग गुरु का निरादर करने से क्षीण हो गये थे, इस समय फिर से भक्तिपूर्वक अपने गुरु शुक्राचार्य की आराधना करके उन्नति को प्राप्त हो गये हैं।"

करने वाले सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, किन्तु इन सबसे बड़े उपकारी वे हैं जो इस संसार में अभय कर दें। अज्ञानान्धकार में पतित प्राणियों को पुण्यालोक प्रदान करें। जो गु अर्थात् अज्ञान को 'रु' अर्थात् नाश करने वाले हैं। अज्ञाननाशक गुरु के उपकार का मनुष्य किसी भी प्रकार से प्रत्युपकार नहीं कर सकता। ऐसे परमोपकारी गुरु के प्रति भी जो द्रोह करते हैं, उन्हें रौरव नरकों की यातनायें सहनी पड़ती हैं, उनके ऊपर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ता है, वे एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी इसी प्रकार विपत्तियों को सहते-सहते ही संसार चक्र में घूमते रहते हैं। उनका उद्धार भगवान् भी नहीं कर सकते। गुरु ही जब कृपा करें तभी उनका उद्धार हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपके सम्मुख मैं गुरुद्रोही की बात कह रहा था। गुरु तो क्षमा की मूर्ति होते हैं, वे शिष्यों के अपराधों की ओर ध्यान नहीं देते, किन्तु भगवान् सब कुछ सह सकते हैं, अपनी आज्ञा का अनादर करने वाले को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु गुरुद्रोही को वे क्षमा नहीं करते। इस विषय में मैं आप लोगों के सम्मुख एक अत्यन्त प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ।

परमपावन अवधपुरी में एक अत्यन्त अभिमानी शूद्र रहता था। जिस पुरी में जन्म लेना अनन्त जन्मों का पुण्य समझा जाता है, उस पुरी में जन्म लेने पर भी वह उसका महत्व नहीं समझता था। कुछ समय के पश्चात् कालक्रम से किसी विपत्ति के कारण वह अवध छोड़ कर अवन्तिका पुरी चला गया। संयोग की बात कि वहाँ उसे एक बड़े ज्ञानी ध्यानी शिव भक्त महात्मा मिल गए। उनकी श्रीसीताराम चरणों में अनन्य भक्ति थी। यह शूद्र जाकर उन ब्राह्मण की सेवा करने लगा। भगवद्भक्त तो कृपा के सागर होते ही हैं, उस शूद्र को दीन, हीन, मति मलीन समझकर ब्राह्मण उसके उद्धार का उपाय

सोचने लगे। एक दिन उन्होंने बड़े स्नेह से कहा—"भैया! शिवरामदास! तू कुछ भजन पूजन करता है?"

उसने कहा—"महाराज! मैं तो कुछ भजन पूजन जानता ही नहीं।"

तब उन कृपालु द्विज ने कहा—"देख भैया! तू इस शिवजी के पंचाक्षरी महामन्त्र का जप किया कर। इसके जप करने से तेरी भगवान् श्री रामचन्द्र के चरणारविन्दों में अविचल भक्ति हो जायगी।"

ऊपर से तो वह शूद्र बड़ा सरल स्वभाव का प्रतीत होता था, किन्तु उसके भीतर तो भँगार भरी थी। वह अपने को बड़ा ज्ञानी ध्यानी पण्डित बना बैठा था। वह साधु ब्राह्मणों से द्वेष करता था, मन ही मन भागवतों को देखकर कुढ़ता था। ब्राह्मण देवता उसके ऐसे व्यवहार से सदा दुखी रहते थे, उसे पुत्र की भाँति पुचकार कर दुलार से समझाते—"बेटा, इस प्रकार साधु सन्तों की अवज्ञा नहीं करते। संसार में साधु ही तो सबके सच्चे सुहृद सखा तथा आत्मीय हैं। साधुओं के चरण सेवन से सदा कल्याण ही कल्याण है। तुम साधुओं की वन्दना किया करो, ब्राह्मणों की भक्ति करो।" इस प्रकार वे गुरुदेव अपने श्रद्धालु शिष्य को सब प्रकार से समझाते थे, किन्तु उसकी बुद्धि में कोई बात बैठती ही नहीं थी, वह अपने स्वभाव से विवश था। फिर भी गुरु को आज्ञा से अभिमानपूर्वक ही सही शिव मन्त्र का जप किया करता था।

एक दिन वह शिव मन्दिर में बैठा हुआ जप कर रहा था। कि इतने में हाँ उसके गुरुदेव मन्त्रदाता वे विप्रवर पधारे। उस शूद्र ने देख भी लिया कि गुरुदेव पधारे हैं। उसे इतना भी ज्ञान था, कि उठकर मुझे गुरुदेव को प्रणाम करना चाहिये, किन्तु अभिमान के वशीभूत होकर उसने न गुरुदेव को अभ्युत्थान ही

दिया और न उठकर प्रणाम ही की। गुरु तो सरल स्वभाव के सीधे सादे थे। उन्होंने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंने जाना भी नहीं कि इसने प्रणाम किया या नहीं। जानते तो भी क्रोध न करते, क्षमा ही कर देते। वे भले ही क्षमा कर दें, किन्तु शिवजी तो गुरुद्रोही को कभी क्षमा करते ही नहीं। इसलिए शिव ने उस शूद्र को शाप दे दिया। मन्दिर में से स्पष्ट मेघ गंभीर स्वर में यह आकाश वाणी हुई—"अरे दुष्ट! तैंने इतने सरल, सच्चे, और सर्वसमर्थ गुरु का अपमान किया है, अतः तू सैकड़ों योनियों में जन्मता मरता रहे। तुझे नारकीय यातनायें सहनी पड़ें।"

ऐसी आकाशवाणी को सुनकर शूद्र को भी क्लेश हुआ और उन ब्रह्मज्ञानी विप्र को भी क्लेश हुआ। उन्होंने विविध स्तोत्रों द्वारा शिव जी की स्तुति की और अपने शिष्य के अपराध को क्षमा कराना चाहा। गुरु ही जिस पर प्रसन्न हैं, वह अपराधी होने पर भी निरपराधी है। अतः शिव जी ने वरदान दे दिया, कि सैकड़ों जन्म धारण तो करने पड़ेंगे, किन्तु जन्म में मृत्यु में इसे कोई कष्ट न होगा। सहज में ही जन्म ले लिया करेगा और बिना कष्ट के ही शरीर को जीर्ण वस्त्र के समान त्याग भी कर दिया करेगा, इसके अतिरिक्त इसे पूर्वजन्मों का सदा ज्ञान भी बना रहेगा।" इस वरदान के अनुसार उसने विना कष्ट के सैकड़ों जन्म ग्रहण किये। अन्त में अवध पुरी में एक विप्रवंश में जन्म ग्रहण किया। पूर्व-जन्म के कारण जन्म से ही उसकी श्री रामचरणों में भक्ति थी, तथा रामकथा में अनुराग था। गुरु की कृपा से और शिवजी के वरदान से उसे सभी जन्मों का ज्ञान था और सर्वत्र उसकी अव्याहत गति थी। उसके पिता ने उसे लौकिक वैदिक विद्यायें पढ़ाना चाहा, किन्तु उसे तो गुरु प्रसाद प्राप्त हो चुका था, उसका

तो रामचरित में दृढ़ अनुराग हो चुका था, इसलिये उसे ये सब बातें अच्छी नहीं लगती थीं। कालान्तर में उसके माता-पिता परलोकप्रवासी बन गये, अब क्या था वह स्वच्छन्द होकर इधर से उधर घूमता रहा। ऋषियों के आश्रम पर जाता, उनसे उपदेश देने की प्रार्थना करता, ऋषि मुनि उसे ब्रह्मज्ञान का, योग का, सांख्य का उपदेश करते, किन्तु उसके मन में तो रामचरित श्रवण करने की चटपटी लगी हुई थी। अतः उसको कहीं सन्तोष नहीं होता था।

एक बार घूमते-फिरते लोमश ऋषि के आश्रम पर वह पहुँचा। ऐसा प्रसिद्ध है, कि लोमश ऋषि की आयु का ठिकाना नहीं। महाप्रलय में भी उनके शरीर का नाश नहीं होता। उनके सामने हजारों लाखों ब्रह्मा बदल चुके हैं। ब्रह्माजी के शरीरान्त के पश्चात् भद्र कराना चाहिये। अब नित्य-नित्य भद्र क्या कराते रहें, अतः महाकल्प में जब ब्रह्मा बदलते हैं, तो ये अपना एक लोम गिरा देते हैं, इसीलिये इनका नाम लोमश ऋषि है। ये बड़े ज्ञानी हैं, यह अवधवासी विप्र उन्हीं की शरण में गया। जाते ही इसने रामचरित के सुनने की इच्छा प्रकट की। मुनि ने सगुण को साधन बताकर निर्गुण का निरूपण करना आरम्भ किया। यह तो था सगुण साकार अवतार रूप का उपासक। अतः बार-बार यह मुनि के वचनों में शंका करने लगा। बार-बार सगुण रूप वर्णन की प्रार्थना करने लगा। मुनि को इसकी अशिष्टता पर क्रोध आ गया। अब तो इसे गुरु के सर्वज्ञ और ज्ञानी होने पर भी शंका होने लगी। तब तो लोमश मुनि ने क्रोध में भरकर शाप दिया—"तू बड़ा कुतर्की अविश्वासी है, अतः जा चाण्डाल पक्षी हो जा।"

ऋषि वचन अमोघ था, वह व्यर्थ होने वाला नहीं था, ब्राह्मण तुरन्त कौआ बनकर उड़ने लगा। उसे इस शाप से न

हर्ष था न विषाद। गुरुजी की कृपा से ज्ञान तो कभी लुप्त होने वाला था ही नहीं। गति भी अव्याहत थी, रामचरित में अनुराग भी था। सोचा—जैसे सहस्रों योनियों को भोगा, एक काकयोनि भी सही।" उसकी इस सहनशीलता का महामुनि लोमश पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसे बुलाकर रामचरित्र का उपदेश दिया कि जहाँ तुम रहोगे एक योजन तक माया न व्यापेगी। कल्पान्त में भी तुम्हारा नाश न होगा, अजर-अमर रहोगे और इच्छानुसार रूप भी रख सकोगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वे ही रामचरित्र के प्रधान वक्ता श्री काकभुशुण्डिजी हुए। काकभुशुण्डि को अपना कौए का शरीर अत्यन्त प्रिय है। वे चाहें तो अन्य शरीर भी रख सकते हैं, किन्तु जिस शरीर से रामजी के चरित्र सुने हैं, वह शरीर उन्हें अत्यन्त प्रिय है। इसीलिये वे अपने आश्रम में रहकर श्री रामचरित की कथा कहते रहते हैं तथा पक्षियों को सुनाते हैं। पक्षियों के राजा गरुड़जी ने भी इन्हीं के समीप जाकर समस्त रामचरित्र सुना था।

यद्यपि ये काकभुशुण्डिजी गुरु के अपराधी थे, शिवजी द्वारा शापित थे, फिर भी गुरु कृपा से ये ऋषिकल्प माने जाते हैं। इनका ज्ञान अमोघ है, ये भगवान् के बाल रूप के उपासक हैं और जब-जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब-तब ये वहाँ जाकर उनके साथ क्रीड़ा करते हैं। इसीलिये गुरुद्रोह का यदि कोई उपाय है, तो गुरुकृपा ही है। यही बात ब्रह्माजी ने देवताओं से कही थी, कि देवताओ! तुम लोगों ने बहुत बुरा कार्य किया, जो अपने गुरुदेव बृहस्पतिजी का अपमान किया। अब तुम्हें इसी प्रकार दुःख उठाने पड़ेंगे।"

इस पर दीनता के साथ इन्द्र ने कहा—"प्रभो! जो हो गया सो तो हो ही गया। अब हमें वह उपाय बताइये, जिससे हम

इस विपत्तिसागर से पार हो सकें। आपके अतिरिक्त हमारी कहीं गति नहीं। हम आपकी शरण में आये हैं, जैसे समझें वैसे हमारा उद्धार करें। इस दोष का जिस प्रकार मार्जन हो सकता हो उस उपाय को हमें बतावें।"

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! जब इन्द्रादि देवों ने लोक पितामह ब्रह्माजी की बहुत भाँति से अनुनय-विनय की, तब वे ध्यानपूर्वक देवताओं के हित की बात सोचने लगे।"

छप्पय

गुरु प्रसाद तें कौन वस्तु है दुर्लभ जगमहँ।
गुरु-प्रसाद पाथेय चलो ले निर्भय मगमहँ॥
गुरु चाहें तो रुष्ट देवकूँ तुरत मनावें।
गुरु चाहें तो तुरत क्रूर कूँ साधु बनावें॥
गुरु चरननिकी शरन महँ, होंहि न भव भय की व्यथा।
है प्रसिद्ध संसार में, काकभुशुण्डी की कथा॥

विश्वरूप को पुरोहित बनाने की सम्मति

[३८६]

तद्विश्वरूपं भजताशु विप्रम्
तपस्विनं त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम् ।
सभाजितोऽर्थान् स विधास्यते वो
यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ७ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

बोले ब्रह्मा विश्वरूप ढिग सुर सब जाओ ।
करिकें अनुनय विनय उन्हें गुरुदेव बनाओ ॥
विधि सम्मति सिर धारि चले सब आयसु पाई ।
त्वष्टा सुत ढिँग जाइ बिपति की बात बताई ॥
सब सुनि बोले त्वाष्ट्र मुनि, कैसे अब नाहीं करूँ ।
उपरोहित निन्दित करम, तिहि करि कस अघ सिर धरूँ ॥

संसार में स्वार्थ से बढ़कर निन्दित और प्रिय कार्य कोई

---

* समागत देवताओं से ब्रह्माजी कहते हैं—"देवगण ! गुरु के बिना विपत्ति से निस्तार नहीं, अतः तुम सब शीघ्र ही त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के पास जाकर उन्हें अपना गुरु बना लो । वह ब्राह्मण आत्मज्ञानी और तपस्वी है । यदि तुम लोग उसके उचित अनुचित कार्यों को सह सकोगे तो वह तुम्हारे द्वारा सत्कृत होकर तुम्हारे समस्त मनोरथों को पूर्ण कर सकेगा ।"

नहीं। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये अर्थी किसी भी दोष को नहीं देखता। स्वार्थ के लिये गदहे को बाप बना लेते हैं। स्वार्थ के लिये मनुष्य नीच-से-नीच कार्य करने को उद्यत हो जाते हैं। जिससे अपना स्वार्थ सधता है,उससे मनुष्य कितना प्रेम प्रदर्शित करते हैं। उसके लिए प्राण अर्पण करने का अभिनय करते हैं। जहाँ स्वार्थ सिद्ध हुआ वहाँ तुम अपने घर, हम अपने घर। यही नहीं, स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर जिसके द्वारा स्वार्थ सिद्ध हुआ है, उसे हम बड़ी-से-बड़ी हानि भी पहुँचा सकते हैं, उसका प्राणान्त भी कर सकते हैं। ऐसे स्वार्थी संसार में जो प्रेम की खोज करते हैं, वे अज्ञ हैं, भूले हैं। संसार में न प्रेम है न आत्मीयता। सर्वत्र स्वार्थ का बोलबाला है। जिससे अपना स्वार्थ है, वह चाहें कितना भी दूर का क्यों न हो, उससे कहेंगे—"अजी, आप तो अपने घर के ही हैं, आत्मीय स्वजन हैं। कितना भी नीच प्रकृति का क्यों न हो उसे आशुतोष बतावेंगे। कितना भी बुरा क्यों न हो उसे दूध का धुला सिद्ध करेंगे। जिनसे अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, वे चाहें कितने भी अच्छे हों उनकी ओर देखेंगे भी नहीं। संसार की प्रीति स्वार्थमय है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पराजित हो जाने पर अपने गये हुए राज्य को लौटाने के निमित्त–अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये–देवता ब्रह्माजी की शरण गये। ब्रह्माजी ने उन्हें बहुत डाँटा डपटा और कहा—"तुम लोगों ने अक्षम्य अपराध किया है।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! अब जो हुआ सो तो हो गया, अब क्या करें वह उपाय बताइये?"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, बिना मन्त्रदाता पुरोहित गुरु के किसी कार्य की सिद्धि होती नहीं। इस समय तुम गुरुहीन हो गये हो, अतः तुम्हारी विजय कठिन है। यदि तुम

अपनी विजय चाहते हो, तो तुम अपने गुरु को प्रसन्न करो।"

देवताओं ने कहा—"महाराज ! यदि हमें गुरुदेव के दर्शन होते, तो हम अनुनय विनय करके हाथ पैर जोड़कर उन्हें मना लेते, किन्तु वे तो हो गये हैं अदृश्य। हम लोगों ने उनका ऐसा अपमान किया है, कि शीघ्र ही उनके प्रकट होने की सम्भावना दिखाई नहीं देती। अतः हमें आप कोई दूसरा उपाय बताइये, जिसके द्वारा हम अपने गये हुए राज्य को फिर से प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है, जब तक तुम्हारे गुरु प्रसन्न होकर लौटते नहीं, तब तक तुम किसी दूसरे योग्य तपस्वी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को अपना गुरु बनालो, जो तुम्हें विधिपूर्वक यज्ञयाग आदि धर्म कार्य कराके राज्य प्राप्त करा सकें।"

देवताओं ने जिज्ञासा और उत्कंठा के साथ कहा—"भगवन् ! आप ही किसी योग्य व्यक्ति का नाम बतावें, जिससे हम उन्हें अपना स्थानापन्न गुरु बना लें।"

यह सुनकर और कुछ देर सोचकर ब्रह्माजी बोले—"देखो, तुम सब लोग कश्यप की सन्तान हो। उन्हीं कश्यप के पुत्र त्वष्टा ऋषि हैं। उन त्वष्टा के एक तेजस्वी, तपस्वी, ब्रह्मज्ञानी पुत्र हैं। उनका नाम विश्वरूप है। वे इस योग्य हैं, कि तुम्हारे गुरुपने का कार्य भली प्रकार कर सकते हैं। वैसे हैं तो तुम लोगों के वे भतीजे ही, किन्तु ज्ञान वृद्ध होने के कारण वे तुम्हारे पूजनीय हो सकते हैं। उन्हीं के पास जाओ, यदि वे इस बात को स्वीकार कर लें। तो समझो तुम्हारा बेड़ापार ही है। वे तुम्हारे गए राज्य को तुम्हें दिला सकते हैं। किन्तु उनमें एक कुछ गड़बड़-सी बात है।"

देवताओं ने चौंक कर पूछा—"महाराज, वह क्या बात है, उसे भी हमें बता दीजिये, कि पीछे कुछ गड़बड़ न हो।"

ब्रह्माजी ने गम्भीरता के साथ कहा—"वह बात यह है, कि उनको माता-त्वष्टा मुनि की पत्नी-असुर वंश की है। मातृस्नेह से संभव है, वे भीतर ही भीतर तुम्हारे शत्रु असुरों का भी पक्ष लें। सो, तुम इस प्रसङ्ग को टालते रहना, बात को बढ़ने न देना। उनके असुरों के पक्षपात पूर्ण कर्मों को भरसक सहते रहना।"

यह सुनकर इन्द्र ने सोचा—"कोई बात नहीं। असुरवंश की माता होने से क्या हुआ। मेरी इन्द्राणी शची देवी भी तो असुर वंश की है। पुलोमा असुर की पुत्री होने से ही पौलोमी उसका नाम है। लड़की जब विवाह के पश्चात् ससुराल में आ जाती है तो उसका पिता का गोत्र बदल जाता है, वह पति के गोत्र की हो जाती है। इस समय तो हमारा स्वार्थ है—अपना काम निकालना है। यदि विश्वरूप ने कुछ किया तो पीछे देखा जायगा।" यही सब सोच समझकर वे ब्रह्माजी से कहने लगे—"अच्छी बात है महाराज, आपकी आज्ञा हमें शिरोधार्य है! हम त्वष्ट तनय श्री विश्वरूप के समीप जाते हैं, उनसे सभी प्रकार से विनय करेंगे, यदि उन्होंने स्वीकार कर लिया, तो तब तक विश्वरूप को अपना गुरु बना लेंगे।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर देवराज इन्द्र ने समस्त देवताओं के सहित लोक पितामह ब्रह्माजी की चरण वन्दना की, उनकी प्रदक्षिणा की और वे विश्वरूप के आश्रम की ओर चल पड़े। ब्रह्माजी के आश्वासन से उनकी चिंता दूर हो गई थी, हृदय में विजय की आशा हो गई थी, वे सब के सब प्रसन्न चित्त हुए, त्वष्टा पुत्र परम तेजस्वी विश्वरूप के आश्रम में पहुँचे।

आश्रम ब्राह्मी श्री से देदीप्यमान् हो रहा था। अग्निहोत्र-शाला में दूसरे अग्नि के ही समान बैठे विश्वरूप मुनि पूजा पाठ कर रहे थे। सहसा अपने आश्रम में देवताओं को आते देख-कर वह उठकर खड़े हो गये। ज्यों ही वे इन्द्रादि देवों के पैर छूने के लिए आगे बढ़े, त्यों ही शीघ्रता से देवराज इन्द्र ने उन्हें कसकर अपने हृदय से लगा लिया। उन्हें तो अपना स्वार्थ साधना था, अतः आज उनके प्रति अत्यधिक स्नेह प्रदर्शित किया। अन्य देवताओं ने भी विश्वरूपजी का आलिंगन किया। विश्वरूपजी ने शीघ्रता के साथ सभी को बैठने के लिये यथोचित आसन दिये। जब सब सुखपूर्वक अपने-अपने आसनों पर बैठ गये, तब सबकी विश्वरूपजी ने पाद्य अर्घ्य आचमनीय तथा फल फूलों के द्वारा पूजा की। विश्वरूपजी की पूजा को स्वीकार करके देवताओं ने उनकी कुशल पूछी और अपने आप ही कहने लगे—"महानुभाव विश्वरूपजी ! हम आपके आश्रम पर अतिथि होकर पधारे हैं।"

विश्वरूपजी ने हाथ जोड़ कर कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"परम पूजनीय देवताओ ! मेरे लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है, बड़े-बड़े यज्ञों में जब आपको अत्यन्त ही श्रद्धा से विधि विधान के साथ बुलाया जाता है, तब आप आते हैं, मेरे आश्रम में आप स्वतः ही पधारे हैं, इससे बढ़ कर मेरे लिये आनन्द की और कौन-सी बात होगी। आपने मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया।"

श घ्रता के साथ देवराज ने कहा—"अनुग्रह फनुग्रह की बात नहीं भैया ! हम तो एक प्रयोजन से अपने एक जरूरी कार्य से तुम्हारे समीप आये हैं, यदि तुम उसे करने का वचन दो तो हम कहें। एक तो हम तुम्हारे वैसे ही माननीय हैं, फिर आज अतिथि बन कर आये हैं। हमारा काम तुम्हें करना ही होगा,

हम इन कंदमूल, फल, धूप, द्वीप नैवेद्य तथा पाद्य अर्घ्य से आज सन्तुष्ट होने वाले नहीं हैं। आज तो तुम्हें हमारी समयोचित कामना पूर्ण करनी होगी।"

विनय के साथ विश्वरूपजी ने कहा—"भगवन्! आप यह कैसी बातें कर रहें हैं। आप सब मेरे चाचा हैं। पिता हैं। पिता के समान ही पूजनीय हैं। आप मुझे आज्ञा दें। मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ?"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं ने विश्वरूपजी को अत्यन्त विनययुक्त और अपने अनुकूल देखा, तो सब की ओर से बड़े ढङ्ग से इन्द्र उनके सम्मुख अपने प्रस्ताव को रखने के लिए प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

देखो, पौरोहित्य कर्म अतिई निन्दित है।
लोक वेद सर्वत्र देवगण! बात विदित है॥
उपरोहित को अन्न पाप ई विज्ञ बतावें।
अति प्रसन्न है कुमति ताहि हर्षित है खावें॥
निष्किंचन की वृत्ति तो, कन कन कूँ संग्रह करे।
पूजि पितर सुर अतिथि ऋषि, उदर शेष तें मुनि भरें॥

पौरोहित्य कार्य में विश्वरूप की अनिच्छा

[३८७]

अकिञ्चनानां हि धनं शिलोञ्छनम्,
तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः ।
कथं विगर्ह्यं नु करोम्यधीश्वराः,
पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः ॥ *
(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

कहें देव—'प्रिय विश्वरूप ! तुम पुत्र हमारे ।
आये हैं के दुखित वत्स ! हम पास तुम्हारे ॥
अनुचित उचित बिसारि पुरोहित पद स्वीकारो ।
विपति उदधि महँ मग्न पकरिकें हमें उबारो ॥
करो न मन संकोच कछु, छोटे कस गुरु पद गहें ।
ज्ञान वृद्धि कूँ वेद विद्, वन्दनीय सब कोउ कहें ॥

कभी-कभी गुरुजनों के संकोच से हमें अप्रिय कार्य भी विवश

---

* देवताओं के पुरोहित बनने के प्रस्ताव पर विश्वरूप कहने लगे—"देवताओ ! जो निष्किञ्चन द्विज हैं, उनका शिल और उञ्छ वृत्ति से इकट्ठा किया अन्न ही परम धन है । उसी अन्न के द्वारा मैं गृहस्थोचित सत्कर्मों का निर्वाह करता हूँ । फिर मैं उस अति निन्दनीय पुरोहित कर्म को कैसे कर सकता हूँ । जिसे प्राप्त करके केवल दुर्बुद्धि पुरुष ही प्रसन्न होते हैं ।"

होकर करना पड़ता है। बड़े लोगों के समीप छोटों को ही जाना चाहिये। जब इसके विपरीत बड़े लोग छोटों के यहाँ स्वयं जायँ, तो समझ लेना चाहिए कुछ दाल में काला है; ये हमसे कोई ऐसा कार्य कराना चाहते हैं, जिसे हम स्वेच्छा से करना न चाहते हों। जाकर यदि वे अपना अधिकार जताकर हमसे आग्रह करते हैं, तब तो मना करने को स्थान ही नहीं रह जाता। तब तो हमें हाथ जोड़कर उनके सम्मुख सिर झुकाना ही पड़ता है। "आपकी जैसी आज्ञा" इसके अतिरिक्त और कुछ कहा ही नहीं जा सकता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विश्वरूप के आश्रम पर पहुँच कर उनके द्वारा सत्कृत होकर समस्त देवताओं की ओर से देवेन्द्र उनसे कहने लगे—"भैया, विश्वरूप! देखो, पुत्रों का प्रधान धर्म है, कि अपने पिता पितृव्यों की समुचित सेवा सुश्रूषा करना। पुत्र फिर चाहे स्वयं पुत्रवान् हो जाय, किन्तु उसे अपने पूज्य पिता पितृव्यों की लघुभाव से सेवा करनी ही चाहिए। फिर जो ब्रह्मचारी है—जिसका विवाह नहीं हुआ है, उसका तो कार्य ही है सेवा करना। देखो, हम आज कल बड़े संकट में हैं, फिर हम अतिथि होकर तुम्हारे समीप आये हैं। शास्त्रकारों का ऐसा कथन है, कि मन्त्रदाता आचार्य स्वयं साक्षात् वेद की मूर्ति माने गये हैं। जिसने वेद का उपदेश देकर हमारे अज्ञानान्धकार का नाश किया है, वह तो स्वयं साक्षात् ज्ञान का अवतार ही हैं। नर रूप में हरि ही हैं। ब्रह्माजी का कार्य है सृष्टि करना। पिता सन्तान की सृष्टि करता है, अतः पुत्री और पुत्रों के लिये पिता स्वयं साक्षात् स्वयंभूस्वरूप है। पिता का ब्रह्मा के समान सम्मान सत्कार करना चाहिए। अपने जो श्रेष्ठ भ्राता हैं, वे मरुत्पति इन्द्र की मूर्ति माने गये हैं। जैसे पृथ्वी अपने से उत्पन्न समस्त चर और अचर जीवों का बिना स्वार्थ के, बिना

विज्ञापन के, बिना दम्भ और दिखावट के स्वयं कष्ट सहकर पालन करती है, उसी प्रकार माता भी सन्तानों का पालन करती है। पृथ्वी पर आप मल मूत्र का त्याग करो, उसमें खोद-खोद कर कुएँ बना लो, गड्ढे कर दो, उसे जोत दो, वह बुरा न मानेगी, तुम्हारा हित ही करती रहेगी, इसी प्रकार माता भी सन्तानों के सुख में सदा तत्पर रहती है। अतः माता भू देवी की साक्षात् मूर्ति मानी गई हैं।

संसार में वे लोग अभागे हैं, जिनके बहिन नहीं। बहिन अपने भाइयों से कितना प्यार करती है, भाई को भोजन कराते समय बहिन के रोम-रोम खिल जाते हैं, उसका हृदय भर आता है। अतः बहिन को मूर्तिमती दया कहा गया है। दया का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो स्नेहमयी भगिनी में करें। संसार में उनसे बड़ा हत भाग्य कोई न होगा, जिसके हाथ में श्रावणी के दिन किसी बहिन ने राखी न बाँधी हो, भैयाद्वैज के दिन जिसके माथे पर बहिन ने द्वैज का टीका न काढ़ा हो। क्योंकि संसार में दया ही एक हृदय को पिघलाने वाली वस्तु है और वह दया बहिन में ही दृष्टि गोचर होती है। बहुत-सी बहिन अपने ऐश्वर्य के मद में दरिद्र भाई को भूल जाती हैं, वे बहिन तो हैं, किन्तु ग्रह गृहीता हैं। उन्हें ऐश्वर्य मद रूपी ग्राह ने पकड़ रखा है।

अभ्यागत को अग्नि की मूर्ति और अतिथि को स्वयं साक्षात् धर्म की मूर्ति कहा गया है। अभ्यागत तो वे कहलाते हैं जो प्रायः माँगने को आते ही रहते हैं। अतिथि उसे कहते हैं जिसके आने की कोई निश्चित तिथि न हो। वे चाहें परिचित हों या अपरिचित हों। अतिथि का जिसने तिरस्कार दिया, मानों उसने धर्म का तिरस्कार कर दिया। अतिथि का जिसने श्रद्धा सहित पूजन कर लिया, उसने मानों सर्वश्रेष्ठ धर्म का सम्पादन कर लिया। सम्पूर्ण जीवों में एक ही आत्मा विराजमान है। अतः धार्मिक

पुरुषों का यह प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है, कि अर्थी होकर कोई भी अतिथि अपने समीप आवे उसकी यथाशक्ति इच्छा पूर्ण करनी चाहिये।"

विश्वरूपजी ने कहा—"भगवन्! आप समस्त देवताओं के स्वामी हैं, मेरे पूजनीय हैं, आप मुझे आज्ञा दें, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ।"

इस पर देवेन्द्र ने कहा—"प्रियवर! देखो, तुम्हारे रहते हुए, हम इस प्रकार शत्रुओं के द्वारा तिरस्कृत होकर घर द्वार से हीन हुए मारे-मारे फिरें यह बड़ी लज्जा की बात है। तुम्हारे ये तप, तेज, वेदाध्ययन आदि शुभ कार्य फिर किस काम आवेंगे। तुम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण हो, अतः हमारे गुरु बन जाओ। हम तुम्हें अपना उपाध्याय बनाना चाहते हैं, जिससे हम तुम्हारे तेज के प्रभाव से अपने असुर शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर विश्वरूपजी ने बड़ी ही नम्रता के साथ कहा—"देवताओ! आप यह कैसी उलटी गङ्गा बहा रहे हैं। गुरु तो आप सब मेरे हैं। मैं आपका गुरु कैसे बन सकता हूँ। मैं तो आप सबका बालक हूँ। जब मैं आचार्य के सिंहासन पर बैठा करूँगा, तो आप सब मुझे प्रणाम करेंगे। यह बात तो अनुचित हो जायगी।"

इस पर देवताओं ने कहा—"नहीं, भैया! यह बात नहीं है। अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये अपने से छोटों की भी चरण वन्दना करने से निन्दा नहीं होती। कार्य सिद्धि की गुरुता से सभी काम करने पड़ते हैं। फिर ब्राह्मणों में तो बड़ापन वेद ज्ञान के कारण होता है, जो अधिक ज्ञानी है, वही अधिक बड़ा है। केवल अवस्था का बड़प्पन ब्राह्मणों में कारण नहीं माना जाता। देखिये इस विषय में हम आपको एक वैदिक गाथा सुनाते हैं। एक बड़े विद्वान् युवक मुनि थे। वे सभी शास्त्रों में

पारङ्गत थे। उनके पास पढ़ने को उनके पिता, पितामह, पितृव्य तथा और भी बहुत से वृद्ध मुनि आते थे। वे उन सबको वत्स कहकर सम्बोधन करते थे, इस पर उन्होंने शंका की कि तुम अपने पिता, पितामहों से वत्स क्यों कहते हो। इसका ऋषियों द्वारा ही समाधान किया गया, कि ज्ञानी सबसे बड़ा है, उसके समीप जो पढ़ने आते हैं, वे चाहे कितने भी बड़े क्यों न हों, छोटे ही हैं, जो ज्ञान वृद्ध है वही यथार्थ में वृद्ध है। अतः तुम हमारा उपाध्याय बनना स्वीकार कर लो। हमारा इस घोर सङ्कट से अपने तपोबल द्वारा उद्धार करो।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवताओं की ऐसी प्रार्थना सुनकर विश्वरूपजी मन ही मन प्रसन्न तो हुए, किन्तु स्थूणा-निखनन न्याय के अनुसार इसकी पुष्टि कराने के निमित्त तथा देवताओं की उत्सुकता बढ़ाने के निमित्त वे कहने लगे—"देखिये पौरोहित्य कर्म, महानीच कर्म है। इसमें पुरोहित को यजमान के सब पाप लेने पड़ते हैं। दान देते समय पढ़ा जाता है इस जन्म में तथा अन्य जन्मों में जो पाप किये हैं, वे इस दान से शान्त हो जायँ।" वह पाप कहाँ जाते हैं, पुरोहित—दान ग्रहीता—के पास चले जाते हैं। कई ऐसे दृष्टान्त हैं, एक पुरोहित ने अपने यजमान के हित के निमित्त उसके पुत्र को ही रानी की गोद से लेकर हवन किया था। राजा का तो उससे भला हुआ, किन्तु नरक में वज्रतुण्ड नामक जीव उन्हें अपने तीखी-तीखी विशाल चोंचों से काटते हुए राजा ने उन्हें देखा। सो देवताओं! आप इतने बड़े होकर मुझसे इस नीच कर्म को करने के निमित्त क्यों कहते हैं।"

देवताओं ने कहा—"भाई, सभी ब्राह्मण ऐसे सोच लें तो पुरोहिती कर्म कौन करे? फिर ब्राह्मणों की आजीविका कैसे चले। ब्राह्मणों को दान लेकर आजीविका चलाना यही तो ब्रह्मा-

जी ने वृत्ति बताई है। दान के बिना ब्राह्मणों पर धन कहाँ से आवे और धन न हो तो गृहस्थी का कार्य कैसे चले ?"

यह सुनकर विश्वरूप कहने लगे—"देवताओ ! आप इतने धर्मात्मा सतोगुणी होकर भी ऐसी बातें कर रहे हो ? अजी, निष्किञ्चन ब्राह्मणों को पवित्र और मुख्य आजीविका तो कापोती वृत्ति बताई है। कबूतर की भाँति खेत में बचे हुए दानों को बीन लाना या जहाँ अन्न बिकता हो वहाँ से फैले हुए कणों को एक एक करके उठा लाना यही प्रधान वृत्ति है। उसी पवित्र अन्न से देवता, ऋषि, पितर तथा अतिथियों का सत्कार करके गृहस्थोचित कार्यों को करे। जो लोभी हैं, दुर्मति हैं, अच्छा सुस्वाद चिकना मधुर भोजन करने के लालची हैं, वे पुरोहिताई को ढूँढ़ते फिरते हैं। उन्हें दस घर की पुरोहिताई और मिल जाती है, तो बड़े प्रसन्न होते हैं, फूले नहीं समाते। वे बड़े गर्व से कहते हैं अमुक श्रीमान् हमारे यजमान हैं, हम अमुक श्रेष्ठि वर के पुरोहित हैं। सो देवताओ ! आप मुझसे ऐसा प्रस्ताव न करें। मुझे अपना बालक समझकर क्षमा करें। यह मैंने शास्त्रीय सिद्धान्त बताया है, इससे आप क्रुद्ध न हों और न यही सोचें, कि मैं आपकी आज्ञा का उलङ्घन कर रहा हूँ। छोटा होना महाराज, बड़ा अपराध है। छोटों को सदा बड़ों के सामने दबना पड़ता है। बड़े लोग जो भी उचित अनुचित आज्ञा दें छोटों को सिर झुकाकर उसे स्वीकार ही करना पड़ता है। आगे आप जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही मैं करूँगा।"

इससे देवताओं को आशा हुई। वे समझ गये विश्वरूप ने मन से इस परम प्रतिष्ठा के पद को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया है। केवल शिष्टाचार के निमित्त मना कर रहे हैं। अतः वे उनसे बोले—"भाई, तुम तो अपने घर के ही हो, उचित हो,

अनुचित हो तुम्हें ही करना है। शत्रुओं के फंदे से तुम्हीं हमें छुड़ाने में समर्थ हो।"

इस पर गम्भीरता पूर्वक विश्वरूप ने कहा—"परम पूजनीय देवताओ! यही तो मेरे सम्मुख धर्म सङ्कट उपस्थित है, उधर तो पुरोहिताई निषिद्ध कर्म है, इधर आप जैसे लोकेश्वर गण स्वयं मेरे आश्रम पर पधारकर मुझे आज्ञा देने आये हैं। आपके प्रस्ताव को स्वीकार न करना–आपकी आज्ञा न मानना–यह भी तो घोर अपराध है। मैं तो आपका पुत्र हूँ, शिष्य हूँ। शिष्यों का सबसे बड़ा स्वार्थ तो यही कहा जाता है, कि गुरुजनों की आज्ञा में उचित अनुचित का विचार न करके उसे बिना विचारे अविलम्ब स्वीकार कर लेना। अच्छी बात है आपकी आज्ञा मुझे स्वीकार है, मैं आपकी यथाशक्ति सेवा करूँगा। मैं आप सबके उपाध्याय का कार्य करूँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवताओं से इस प्रकार कहकर वे महातपस्वी विश्वरूपजी पुरोहित पद के लिये उनके वरण करने पर, बड़े उद्योग के साथ देवताओं की पुरोहिताई करने लगे।"

छप्पय

विनय सहित पुनि विश्वरूप बोले मृदु बानी।
आप देवगण परम पूज्य ज्ञानी विज्ञानी॥
लोकेश्वर हैं आप पुत्र कूँ देहिं बड़ाई।
गुरु आज्ञा महँ होहि, शिष्य की सदा भलाई॥
होवें अब निश्चिन्त हौं, पुरोहिताई करुँगो।
तुम सबकी आज्ञा बिहँसि, प्रेम सहित सिर धरुँगो॥

—०—

देवताओं के पुरोहित विश्वरूपजी

[३८८]

तेभ्य एवं प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः ।
पौरोहित्यं वृतश्चक्रे परमेण समाधिना ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ७ अ० ३८ श्लोक)

छप्पय

सुनिकें सबई देव हृदय महँ अतिशय हरषें ।
बजें दुन्दुभी आदि कुसुम नभतें बहु बरसें ॥
विश्वरूप को वरण कर्यो गुरु पद बैठाये ।
धर्म कर्म, व्रत नियम सुरनि सब विप्र सिखाये ॥
विश्वरूप गुरु पाइके, देवनि की चिन्ता गई ।
अवसि मिलें पुनि स्वर्ग सुख, यह प्रतीति सबकूँ भई ॥

पुरोहित का कार्य है, यजमान के हित में सदा अग्रसर रहना । जिन कार्यों के करने से यजमान की श्रीवृद्धि हो, यश का विस्तार हो, शत्रु से विजय और इहलोक तथा परलोक में सुख की प्राप्ति हो उन कार्यों को सदा तत्परता के साथ अव्यग्र भाव से करते रहना चाहिये । राजा की उन्नति अवनति अधिकांश पुरोहित के ही ऊपर निर्भर है । पुरोहित जैसा मन्त्र देगा, राजा उसी के अनुसार

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विश्वरूप ने इस प्रकार देवताओं से पुरोहित बनने की प्रतिज्ञा की । इस पर देवताओं ने उन्हें वरण करके पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित किया । वे महा तपस्वी विश्वरूपजी भी परम समाधि के द्वारा देवताओं की पुरोहिताई करने लगे ।"

कार्य करेगा। शुभ मन्त्र हुआ तो शुभ परिणाम होगा, अशुभ मन्त्र हुआ तो अशुभ परिणाम होगा। अतः पुरोहित का योग्य होना राजा और प्रजा दोनों के लिये श्रेयस्कर है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं के-स्थानापन्न पुरोहित विश्वरूपजी बन गये तब देवताओं को बड़ा हर्ष हुआ। मन्दराचल के एक गुप्त स्थान में बैठकर देवताओं ने सम्मति की अब आगे क्या करना चाहिये।"

शतक्रतु देवेन्द्र ने अपने नये गुरु विश्वरूप को प्रणाम करके पूछा—"गुरुदेव! अब आप हमें हमारा कर्तव्य बताइये। अब आगे का कर्तव्य समझाइये, हमारी असुरों से विजय कराइये, हमारी गई हुई लक्ष्मी को शत्रुओं से दिलाइये। हमें कोई ऐसा जप,तप, मन्त्र, अनुष्ठान बताइये जिसे करके हम अपने गये हुए ऐश्वर्य को पुनः प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर विश्वरूपजी ने गंभीरता के साथ कहा—"देवेन्द्र, आप किसी बात की चिन्ता न करें। मैं आपको आपका गया हुआ राज तथा ऐश्वर्य पुनः अवश्य दिलाऊँगा। असुरों के पास आसुरी बल है, वे आसुरी विद्या के सहारे तुम्हें जीत लेते हैं। मैं तुम्हें वैष्णवी विद्या दूँगा। वैष्णवी विद्या के सम्मुख आसुरी विद्या कुछ कर नहीं सकती है। मैं तुम्हें एक ऐसा कवच पहिना दूँगा, कि जिसे पहिन लेने से आपके ऊपर शत्रुओं का कोई भी अस्त्र-शस्त्र प्रहार न कर सके।"

देवराज इन्द्र ने कहा—"महाराज, वह कवच किस वस्तु का बना हुआ है। मेरे पास भी अनेकों प्रकार की धातुओं के कवच हैं, किन्तु मन्त्रों द्वारा छोड़े हुए अमोघ बाणों से बड़े-बड़े कवच व्यर्थ हो जाते हैं। आप मुझे कैसा कवच देंगे?"

इस पर विश्वरूप ने कहा—"हे अमराधिपः! मैं आपको धातुओं का बना कवच न दूँगा, मैं आपको मन्त्रमय 'नारायण

कवच' दूँगा। जिसे धारण कर लेने पर आपको समस्त प्राणी नमस्कार करेंगे। आप कभी भी किसी से पराजित न हो सकेंगे। उस कवच को धारण करके आप असुरों से युद्ध करेंगे, तो अवश्य ही अपनी गई हुई राजलक्ष्मी को शत्रुओं के हाथों से सुख पूर्वक लौटा लेंगे।"

इस पर अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए नाकपति देवेन्द्र ने कहा—"महाराज! अब आपका ही हमें सहारा है, जैसे भी उचित समझें हमारा उद्धार करें, हमें पुनः स्वर्ग के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करा दें।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इन्द्र की ऐसी प्रार्थना पर विश्वरूप जी ने उन्हें विधि विधान पूर्वक साङ्गोपाङ्ग नारायण कवच का उपदेश दिया। इसको प्राप्त करके देवताओं ने असुरों पर चढ़ाई कर दी। यद्यपि असुरों की रक्षा असुराचार्य शुक्र कर रहे थे, वे अपने विद्या बल से आसुरों को परास्त होने देना नहीं चाहते थे, किन्तु वैष्णवी विद्या के सम्मुख आसुरी विद्या अधिक काल तक कैसे ठहर सकती है। 'नारायण कवच' को धारण करके जब देवेन्द्र ने युद्ध किया, तो सभी असुर अपने-अपने अस्त्र शस्त्रों को रण में ही छोड़कर भाग खड़े हुए। वे अपने आप ही स्वर्ग के सिंहासन को छोड़ गये। देवराज इन्द्र की विजय हुई। उन्हें पुनः स्वर्गीय राजलक्ष्मी ने वरण किया। विश्वरूप की कृपा से प्राप्त नारायण कवच द्वारा उन्होंने असुरों को परास्त कर दिया। उदार बुद्धि विश्वरूप ने अपने यजमान इन्द्र की भलाई के लिये दैत्यों के संहार के निमित्त यह अत्यन्त गुप्त विद्या उन्हें दी थी।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन्! यह तो बड़ी चमत्कार पूर्ण बात है। जिस वैष्णवी विद्या से इन्द्र ने शुक्राचार्य के द्वारा रक्षित असुरों की बड़ी भारी चतुरङ्गिणी सेना

को बात की बात में लीला द्वारा खेल-खेल में ही जीत लिया। वह विद्या तो अमोघ होगी। आपने उस विद्या का नाम 'नारायण कवच' बताया है। वह नारायण कवच क्या है? उसे कैसे धारण करते हैं, कब धारण किया जाता है। उसके धारण करने की विधि क्या है। कृपा करके मेरी इन सभी बातों का उत्तर दीजिये। मेरे मन में बड़ा कुतूहल हो रहा है?"

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज परीक्षित् ने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से इस प्रकार पूछा, तो व्यासनन्दन परमहंस चूड़ामणि श्रीशुक ने उन्हें नारायण कवच विधि सहित बताया। उसे सुनकर महाराज परीक्षित बड़े सन्तुष्ट हुए। यह नारायण कवच बड़ा ही शक्तिशाली और अमोघ बताया गया है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग सूतजी! उस 'नारायण कवच' का उपदेश हमें भी दीजिये। उसके धारण की विधि हमें भी बताइये। हम भी अपने शत्रुओं को उसे धारण करके पराजित कर सकें।"

इस पर हँसते हुए सूतजी ने पूछा—"आप तो समदर्शी हैं, अजात शत्रु हैं। आप तो अपनी ओर से किसी से शत्रुता करते ही नहीं, फिर आप किन शत्रुओं को परास्त करना चाहते हैं?"

इस पर गम्भीरता के साथ शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह ठीक है, कि हमारे बाहर कोई शत्रु नहीं है, किन्तु भीतर तो ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मत्सर रूपी ६ शत्रु सदा भरे ही रहते हैं। ये सब महापराक्रमी असह्यवेग वाले काम को संताने हैं। इन्होंने हमारे अन्तःकरण को क्षुभित-सा बना रखा है, हम सब नारायण कवच को धारण करके इन्हीं शत्रुओं

का संहार करना चाहते हैं। बताइये नारायण कवच पहिन कर ये शत्रु जीते जा सकते हैं ?"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज ! जिसने भगवत् कथा कीर्तन का आश्रय ग्रहण कर रखा है, जो हृदय से सदा सर्वदा उसी में लगे रहना चाहते हैं। उनके सम्मुख काम क्रोधादिक शत्रु फटकने ही नहीं पाते। इस नारायण कवच में भी नारायण श्रीविष्णु के नाम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यही नाम तो सार है, अतः उसी में सब कुछ है। यह कवच अङ्ग-न्यास करन्यास आदि अनेकों विधि विधान के सहित किया जाता है, इस भागवती कथा के प्रसङ्ग में मैं इस विधि अनुष्ठान का वर्णन करना नहीं चाहता। अतः इसका विस्तार के सहित वर्णन प्रसंगानुसार किसी प्रसंग में किया जायगा। इस समय तो मैं आपको विश्वरूप जी की कथा सुना रहा हूँ। फिर जैसी आपकी आज्ञा हो। कहें तो नारायण कवच की ही विधि आदि सुनाऊँ ?"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"नहीं, सूतजी, हमारा कोई आग्रह नहीं। पहिले आप कथा ही सुनावें। पीछे— जब मंत्र अनुष्ठान का प्रसङ्ग आवे तभी इसे सुनाना।"

शौनकजी की ऐसी बात सुनकर सूतजी अब आगे जिस प्रकार विश्वरूप जी ने देवताओं के साथ छल कपट किया है, उस कथा को सुनाने के लिये सोचने लगे।

छप्पय

विश्वरूप गुरु बने नाकपति निर्भय कीन्हों।
रक्षा के हित दिव्य कवच नारायण दीन्हों॥
नारायण को कवच धारि जे रन महँ जावें।
होहिं पराजय नहीं विजय शत्रुनि पै पावें॥
पाई विद्या वैष्णवी, अति प्रसन्न सुरपति भये।
करी चढ़ाई सुरनि ने, असुर पराजित करि दये॥

विश्वरूप की देवेन्द्र द्वारा हत्या

[३८६]

स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान्प्रति ।
यजमानोऽवहद् भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥
तद् देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः ।
आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद् रुषा ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ६ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

त्वष्टा सुत गुरु पाइ भये स्वर्गेश इन्द्र पुनि ।
करवावें नित यज्ञ पुरोहित विश्वरूप मुनि ॥
उच्चस्वरतें बोलि सुरनि को आहुति देवें ।
चुपके तें कछु यज्ञ भाग दे असुरनि सेवें ॥
मातृ पच्छ अनुराग लखि, देवनि संशय ह्वै गयो ।
उपरोहित अविनय निरखि, छोभ इन्द्र मन अति भयो ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब विश्वरूप देवताओं के पुरोहित हो गये, तो ऊँचे स्वर से प्रत्यक्ष तो देवताओं को भाग देते थे और मातृ स्नेह के वश से धीरे से गुप्त रूप से यज्ञ में दैत्यों को भी हविर्भाग दे देते थे । इन्द्र ने जब इस प्रकार पुरोहित के द्वारा देवताओं की अवज्ञा और धर्म का उल्लङ्घन होते देखा, तो अत्यन्त भयभीत होकर रोष में भरकर शीघ्रता से उनके तीनों सिर काट डाले ।"

स्वार्थ के वशीभूत होकर जो श्रद्धा, जो प्रेम, जो सम्वन्ध आदि किये जाते हैं, वे उस स्वार्थ के पूरा होने पर या स्वार्थ में आघात होने पर नष्ट हो जाते हैं। हम किसी से इसलिये मैत्री करते हैं, कि वह धनी है। समय समय पर हमारी धन के द्वारा सहायता करता रहेगा, दैवयोग से उसका सब धन नष्ट हो जाय, वह निर्धन बन जाय, तो हमारी मैत्री का भी अन्त हो जायगा। अथवा हम उससे जो आशा रखते थे वह आशा पूर्ण न हो। वह कृपणता के वश हमें द्रव्य न दे तो भी मैत्री न रहेगी, क्योंकि उससे जो मैत्री की थी वह उसके शरीर से नहीं की थी। उसके धन से की थी। जहाँ धन न मिला वहाँ मैत्री भी समाप्त। स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य घनिष्ट से घनिष्ट सम्बन्धियों को, माता, पिता, गुरु, पत्नी, पुत्र, मित्र तथा गुरुओं को भी मार डालते हैं! अपने स्वार्थ में व्याघात होने पर मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप देवताओं के धर्माचार्य पुरोहित बन गये। नारायण कवच के प्रभाव से उन्होंने देवताओं की गई हुई राज्य लक्ष्मी पुनः असुरों से लौटाकर इन्द्र को दिला दी, इससे उनकी देवताओं में बड़ी प्रतिष्ठा हुई। समस्त देवता उनका अत्यधिक सम्मान करने लगे। वे स्वर्ग में परम गौरव के पद पर प्रतिष्ठित हो गये। राजन्! जब अपना कोई सम्बन्धी किसी अधिकार के पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है, तो हम लोग उससे उचित अनुचित सभी प्रकार की आशायें रखते हैं और उसे भी लज्जावश, शील संकोचवश हमारी बातें मानने को बाध्य होना पड़ता है। असुरों ने जब देखा कि हमारी लड़की का लड़का ही देवताओं के यहाँ सर्वे सर्वा है। उसी के अधीन समस्त देवता हैं, तो उन्होंने तिकड़म भिड़ानी आरम्भ की। उन्होंने त्वष्टा मुनि के यहाँ से

विश्वरूप की माता को बड़े आदर सत्कार से बुलाया। अब के वे बड़ा भारी आदर सत्कार करने लगे। राजन्! जिस सम्बन्धी से हमें कुछ आशा होती है, उसका तो हम देवता की भाँति पूजन करते हैं, जिससे कुछ स्वार्थ सिद्धि की आशा नहीं होती, उसे देखते ही नाक भौं सिकोड़ लेते हैं और मन ही मन सोचते हैं—"यह दिन काटने के लिए, रोटी खाने के लिए आ गया है। कब यहाँ से जाय, एक दो दिन रह भी जाता है तो हम कह भी देते हैं, भाई अपना काम देखना चाहिए। ऐसे बेकार बैठने से क्या लाभ ?"

असुरों ने विश्वरूप की माँ का अत्यन्त स्वागत सत्कार करके कहा—"बेटी! देखा यह बड़ी प्रसन्नता की बात है, कि तेरा पुत्र देवताओं का पुरोहित बन गया है, किन्तु उसके द्वारा हमारा अनिष्ट होता है। तू उससे किसी प्रकार कह देना, हमारा भी कुछ ध्यान रखा करे। ननसाल का भी तो उसे कुछ हित करना चाहिये।"

इस बात को सुनकर और पैतृक स्नेह के वशीभूत होकर विश्वरूप की माता ने स्वीकार कर लिया कि अब के वह कभी आवेगा तो मैं उससे अवश्य आग्रह पूर्वक इस बात को कहूँगी। असुरों का मनोरथ सिद्ध हो गया। कुछ समय के पश्चात् उसे त्वष्टा मुनि के यहाँ वे सब पहुँचा आये।

एक दिन विश्वरूप देवगुरु के परम वैभव के सहित दिव्य विमान में बैठकर अपने माता-पिता के दर्शनों के लिए आये। अपने पुत्र का ऐसा ऐश्वर्य और प्रभाव देखकर माता पिता को परम प्रसन्नता हुई। पैरों में पड़े हुए अपने पुत्र को उन्होंने उठाकर छाती से लगाया और सिर सूँघकर अनेकों आशीर्वाद दिये। कुशल क्षेम के अनन्तर माता उन्हें जलपान कराने भीतर

ले गई। जलपान कराते-कराते माता ने पूछा—"बेटा! तू वहाँ क्या किया करता है?"

विश्वरूपजी ने कहा—"अम्मा! मैं वहाँ यज्ञ कराता हूँ, उसमें देवताओं को हविर्भाग दिया करता हूँ, जिसको पाकर वे पुष्ट होते हैं।"

माता ने पूछा—"तू असुरों को कुछ भाग नहीं देता?"

विश्वरूपजी ने चौंककर कहा—"नहीं माँ! असुरों को मैं कैसे दे सकता हूँ। असुर तो देवताओं के शत्रु हैं।"

माता ने अत्यन्त स्नेह से कहा—"भैया! देवताओं के शत्रु भले ही हों तेरे तो शत्रु नहीं हैं। तेरे तो मातृ वंश के ननसाल के हैं। देवता तेरे पिता के पक्ष के हैं, असुर मातृ पक्ष के हैं, तुझे दोनों का ही ध्यान रखना चाहिये। सभी लोग अपने सम्बन्धियों से आशा लगाये रहते हैं कि बड़े पद पर प्रतिष्ठित होने पर हमारा कुछ कल्याण करेगा।"

मुँह के ग्रास को मुँह में ही लिए विश्वरूपजी ने कहा—"अम्मा! यह सब तो सत्य है किन्तु मुझे तो वहाँ उसके सामने भाग देना पड़ता है। यदि उन्हें पता चल जाय कि मैं उनके शत्रुओं को भी भाग देता हूँ। तो वे सब विरुद्ध हो जायँ। अभी मेरा पद स्थाई भी नहीं है। अभी तो मैं स्थानापन्न देवगुरु बनाया गया हूँ।"

माता ने कहा—"सबके सामने देने की क्या आवश्यकता है भैया! एक काम करना उच्चस्वर से तो देवताओं को जैसे देता है दिया कर। बीच-बीच में जब इन्द्र का मन इधर-उधर हो जाय, तो चुपके असुरों का भाग भी हौले से सरका दिया।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भला बुरा सिखाने वाली—अच्छा बुरा संस्कार डालने वाली मातायें ही होती हैं। पुत्र को वे जैसा सिखा देंगी वैसा ही वह करेगा। माता के स्नेहवश

विश्वरूपजी ने यह बात स्वीकार कर ली। माता-पिता को प्रणाम करके वे स्वर्ग को चले गये।"

अब वे यज्ञ भाग देने में धूर्तता करने लगे। जब यज्ञ कराते तो देवताओं को तो बड़े उच्च स्वर से विधि विधान से सत्कार पूर्वक हविर्भाग देते। सबको दिखाकर प्रत्यक्ष नाम लेकर कहते—"इन्द्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, कुबेराय स्वाहा" इत्यादि-इत्यादि। जहाँ देवताओं की आँखें बचीं कि झट से चुपके से कुछ हविर्भाग असुरों को भी सरका देते और हौले-से कह देते "प्रह्लादाय स्वाहा, बलये स्वाहा, नमुचये स्वाहा" १०-२० दिन तो ऐसे चला। किन्तु पाप पुण्य सदा थोड़े ही छिपा रह सकता है। देवता समझ गये, कि हमारे ये नये पुरोहितजी तो पक्षपाती हैं, प्रतीत होता है, ये हमारे शत्रुओं से मिल गये हैं। कुछ चुपके-चुपके भेंट दक्षिणा उनसे भी उड़ाते हैं। अब क्या किया जाय, देवताओं में भीतर ही भीतर बड़ा असन्तोष फैल गया। सभी नये पुरोहित के विरुद्ध हो गये। इन्द्र ने सोचा—"यदि इसका ऐसा ही वर्ताव बना रहा, तब तो यह दैत्यों का बल बढ़ाकर हमारा नाश ही करा देगा। अब तो इन्द्र बड़े भयभीत हुए। यह तो पहिनने के वस्त्रों में छिपा हुआ सर्प ही निकला। इसने तो देवगुरु की प्राचीन मर्यादा का सर्वथा उल्लंघन कर दिया।"

विश्वरूप वैसे तो तपस्वी थे, किन्तु उनमें कुछ दोष था। उनके तीन मुख थे। मुनि के पुत्र होने से उनका एक मुख तो मानवीय था, उससे वे अन्न आदि मनुष्यों के भोज्य पदार्थों को खाते थे, देवताओं के गुरु होने से उनका एक मुख देवों का जैसा था, उससे वे यज्ञ में दिये हुए सोम—अमृत का पान करते थे। असुरों के धेवते होने के कारण एक मुख उनका असुरों जैसा था। उससे वे सुरापान भी करते थे। इसका कारण वे देवगुरु होने के सर्वथा अयोग्य थे। यदि वे ऐसी धूर्तता न करते, तो देवता जैसे

तैसे उन्हें निभा भी ले जाते, किन्तु वे तो घर में ही कपट करने लगे। शत्रुओं के बल को बढ़ाने का ही उद्योग करने लगे। इसे देवराज इन्द्र कैसे सह सकते थे। अतः एक दिन जब वे बैठे ध्यान कर रहे थे, तो पीछे से चुपके से इन्द्र ने आकर और क्रोध में भरकर उनके तीनों सिर काट डाले। विश्वरूप के तीनों सिर धड़ से अलग हो गये। उन तीनों सिरों से तीन पक्षी उत्पन्न हुए। सुरापीथ मुख से कलविङ्क (धोबिन) पक्षी, सोमपीथ से कपिञ्जल (खंजन) पक्षी और अन्नाद सिर से तित्तिर (तीतर) पक्षी हो गये।

शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार स्वार्थवश इन्द्र ने अपने धर्माचार्य पुरोहित की हत्या कर दी और विश्वरूप ने भी अपने कपट व्यवहार का तत्काल यथोचित्त फल पा लिया।"

छप्पय

निरखि स्वार्थ महँ विघ्न इन्द्र ने खड्ग निकार्यो।
त्वष्टा सुत सिर तीन काटि उपरोहित मार्यो॥
सोमपीथ सिर भयो कपिञ्जल सुरापाथ सिर।
भयो पक्षि कलविङ्क तीसरो नर सिर तित्तिर॥
द्विज हत्या सुरपति निकट, आई अञ्जलि महँ लई।
हत्यारे देवेन्द्र हैं, यह प्रसिद्धि जग महँ भई॥

इन्द्र को ब्रह्महत्या

[३१०]

ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः ।
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये ॥
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

बनि हत्यारे फिरें वर्ष भरि सुरपति जहँ तहँ ।
बाँटी हत्या इन्द्र धरा नग नारि वारि महँ ॥
गड्ढा पुनि भरि जायँ लह्यौ वर धरा प्रेम तें ।
कटिकें पनपें वृक्ष इन्द्र वर दयो नेम तें ॥
व्यय करिके हू नित बढ़े, बदले महँ वर जल लह्यो ।
रति सुख शक्ति सदा बनी, रहे कामिनिनि वर दयो ॥

पाप चाहे धनी करे, निर्धन करे, समर्थ करे, असमर्थ करे, बली करे, निर्बल करे, उसका फल तो सभी को भोगना पड़ेगा। अन्तर इतना ही है। असमर्थ असहाय पुरुष को अपना दुःख

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विश्वरूप के मरने से जो ब्रह्महत्या इन्द्र को लगी थी, उसे ईश्वर होने पर भी उन्होंने अञ्जलि में ग्रहण किया। एक वर्ष के अन्त में प्राणियों में अपनी शुद्धि प्रकट करने के निमित्त उसे पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियों में इस प्रकार चार स्थानों में बाँट दिया।"

अकेले में अपने आप ही सहना पड़ता है। छूटने तो समर्थ भी नहीं पाते, शुभाशुभ कर्मों का भोग तो उन्हें भी भोगना ही पड़ता है, किन्तु वे अपने दुःख को बाँटकर भोगते हैं। उनके दुःख में उनके आश्रित लोग भी दुःखी होते हैं और बहुत कुछ दुख तो सहानुभूति से ही चले जाते हैं। इसीलिये सम्बन्धी लोग रोगी के प्रति समवेदना प्रकट करने जाते हैं। स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, कुटुम्बी सेवा और सहानुभूति के द्वारा दुःख को, पाप को, बँटा लेते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इन्द्र ने अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर विश्वरूप को मार तो डाला था, किन्तु उन्हें ब्रह्महत्या तो लगी है। असावधान बैठे हुए वेदज्ञ ब्राह्मण को उन्होंने पीछे से आकर चुपके से मार डाला, इसीलिये ब्रह्म-हत्या उनके समीप आई कि मैं तुम्हारे ऊपर लगूँगी। इन्द्र ने उसे स्वीकार कर लिया। उन्होंने अञ्जलि बाँधकर विनय के साथ कहा—"हाँ, देवि! मैंने स्वार्थवश ब्राह्मण की हत्या की है, मैं ऐसा करने के लिये विवश था, ऐसा न करता तो सब देवता पुनः श्रीहीन होकर स्वर्ग से भ्रष्ट हो जाते। मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करता, कि मैंने ब्रह्महत्या नहीं की है। मैंने ब्रह्महत्या की है और तुम मेरे शरीर में चिपट जाओ।" इतना सुनते ही ब्रह्महत्या इन्द्र के समर्थ होने पर भी उनके शरीर में चिपट गई।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमने तो ऐसा सुना है, जिसे अहंकार न हो, तथा जिसकी बुद्धि उस कर्म में लिप्त न होती हो, तो वह चाहे जितनी भी हत्यायें करे, वह उनके पापों से बँधता नहीं। इन्द्र तो ज्ञानी थे, बड़े-बड़े ऋषि मुनियों के सत्संगी थे, तीनों लोकों के ईश थे, फिर उन्होंने स्वेच्छा से ब्रह्महत्या को ग्रहण क्यों किया? कह देते मैं मारने

वाला हूँ ही नहीं। गुण-गुणों में प्रवृत्त हो रहे हैं। विश्वरूप के मरने का समय आ गया, मर गया। खड्ग के द्वारा उसकी मृत्यु बदी थी इसलिये खड्ग से मृत्यु हो गई।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाभाग! केवल बातें बना देने से ही तो कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। ज्ञान की बातें रट लेने से, इधर-उधर की पोथी पढ़ लेने से, जो जो ज्ञान-मानी–मिथ्या ज्ञानी बन जाते हैं, उनकी अन्त में दुर्दशा ही होती है। महाभाग! ज्ञानी की दृष्टि में तो जय पराजय, सुख-दुःख, जीवन मृत्यु, अपना पराया आदि द्वन्द वाली वस्तुएँ हैं ही नहीं, वह तो निर्द्वन्द हो जाता है। जब देवेन्द्र ने अपने उद्योग से कर्म करके स्वर्ग ऐश्वर्य को पुनः प्राप्त करके स्वीकार किया तो ब्रह्महत्या रूपो कर्म को करके भी उसके फल को स्वीकार करना हो चाहिये। ऐसा नहीं कि अच्छा किया, वह तो मैंने किया और बुरा किया तो प्रकृतिवश गुणों में गुणों के द्वारा स्वतः हो गया, मैं इसका फल क्यों भोगूँ। यह तो वही बात हुई, मीठा-मीठा गप गप, कड़वा-कड़वा थू-थू।" इस विषय में आप एक सुन्दर दृष्टान्त सुन लीजिये, उसस आप इस विषय को भली भाँति समझ जायँगे।"

पंचनद देश में एक ज्ञानमानी पुरुष था। उसने इधर-उधर से कुछ भाषा की किताबें पढ़कर अद्वैत की कुछ बातें याद कर रखी थीं। इसी से वह अपने को जीवन्मुक्त प्रसिद्ध करता था। वह घर गृहस्थ के सभी कामों को करता, जो काम अच्छा हो जाता, उसे तो सोचता यह मेरे पुरुषार्थ से हुआ है और जो कोई बुरा काम हो जाता, तो कह देता—"मैं कर्ता भोगता नहीं हूँ। मैं तो कर्मों से सदा पृथक् रहता हूँ, मुझसे और कर्मों के फलों से क्या सम्बन्ध?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अज्ञ पुरुष को तो समझाया

भी जा सकता है, अपठित पुरुष को तो पढ़ाया भी जा सकता है, किन्तु जो वास्तव में है तो अज्ञ, किन्तु अपने को लगाते हैं बड़ा भारी ज्ञानी, हैं तो वास्तव में मूर्ख–किन्तु इधर-उधर की कुछ बातें सुन सुनाकर अपने को बड़ा भारी ज्ञानी मान बैठे हैं– ऐसे ज्ञानलव दुर्विदग्ध अधकचरे पुरुष को पठित मूर्खों को— समझाने में ब्रह्माजी भी समर्थ नहीं होते। भगवान् ही कृपा करें तो उनका उद्धार भले हो। क्योंकि वे स्वयं ही स्वयंभू बनते हैं। सोते हुए को जगाया जा सकता है, किन्तु जागा हुआ ही जो सोने का बहाना बनाये हुए है ऐसे को कोई कैसे जगावे। ऐसा ही वह ज्ञानमानी पुरुष था।"

उसने एक बड़ा सुन्दर बगीचा लगाया था। उस बगीचे में उसकी अत्यन्त ही आसक्ति थी, उसे भाँति-भाँति से सजाता था। दूर-दूर से भाँति-भाँति के पेड़ मँगवाकर उसमें लगवाता था। सायंकाल को १०–५ लोगों को लेकर उसमें बैठकर वह ज्ञान चर्चा किया करता था। अपने को आचार्य मानकर वह ब्रह्म सत्य और जगन्मिथ्या की, तोता रटन की बातें किया करता था। मुनियो ! आप जानते ही हैं, ये स्वार्थी लोग गिरगिट के भाई बन्धु होते हैं। जिनके द्वारा इनका स्वार्थ सधता है उसके अनुरूप ही ये रङ्ग बदल लेते हैं। किसी समर्थ प्रभावशाली व्यक्ति को देखते हैं, कि इसे उपदेश देने का व्यसन है और इसके द्वारा कुछ माल टाल मिलने की सम्भावना है, तो वहाँ ये देवता बड़े भारी जिज्ञासु बन जायँगे। सबसे पहले उपदेश सुनने पहुँचेंगे, तर्क-वितर्क करेंगे। किसी को कीर्तन करते देखेंगे तो वहाँ जाकर बड़े भगत बन जायँगे। कीर्तन करते-करते लोट-पोट हो जायँगे। भाव समाधि का ढोंग रच लेंगे।। सारांश यह कि जिस रूप से भी स्वार्थ सिद्ध होता देखेंगे वैसा ही रूप धारण कर लेंगे। उन ज्ञान-मानी महाशय के पास १०।५ चापलूस आ-आकर उनकी बड़ाई

किया करते थे—"आप तो जनक के समान विदेह हैं। आपको क्या करना शेष है। आप सब तो लोकसंग्रह के निमित्त कर ही नहीं रहे हैं।" इन बातों को सुन-सुनकर वह और भी फूलकर कुप्पा हो जाता और अपने को बड़ा भारी ज्ञानी समझता।

एक दिन की बात है, कि वह अपने बगीचे में टहल रहा था। इतने में ही एक बूढ़ी गौ आई और उसके अभी दूर से नये मँगाये हुये बहुमूल्य पौधों को खाने लगी। उन पौधों को उसने बहुत व्यय करके बड़े श्रम से मँगाया था, दृष्टि पड़ते ही वह गौ को हटाने को दौड़ा। सामने एक डण्डा पड़ा था, उसने क्रोध में भरकर डण्डा उठा लिया और २—४ गौ में कस कर मार दिये। गौ दुबली थी, डण्डे लगते ही वहाँ की वहीं मर गई। अब तो हत्या अपना भयंकर रूप बनाकर उसके ऊपर झपटी।

हत्या को अपनी ओर आते देखकर उस ज्ञानमानी ने पूछा—"तू कौन है, क्यों मेरे शरीर से चिपटना चाहती है ?"

हत्या ने कहा—"मैं हत्या हूँ, तैंने अभी गौ का बध किया है, इसलिये तेरे ऊपर सवार होऊँगी।"

इसने कहा—"मैंने तो गौ को नहीं मारा, गौ को तो इस डण्डे ने मारा है, उसके ऊपर लग जा।"

हत्या यह सुनकर डंडे के पास गई। तब डण्डे ने विनीत भाव से कहा—"मैं तो जड़ हूँ, मैं बिना हाथ के कुछ कर नहीं सकता। मुझसे तो हाथ ने कराया, अतः हाथ पर लग जा।" यह सुनकर हत्या हाथ के पास गई। हाथ ने कहा—"मैं तो कुछ करता नहीं। हाथ के अधिष्ठातृ देव इन्द्र हैं। उनकी प्रेरणा से हाथ आदान प्रदान आदि क्रियाओं को करते हैं, अतः उनको जाकर लग।" तब हत्या इन्द्र के पास गई। इन्द्र ने सब सुनकर कहा—"हम तो जो कुछ करते हैं, ब्रह्मा जी की आज्ञा से करते हैं तू ब्रह्माजी के पास जा।" हत्या विचारी ब्रह्माजी के पास

पहुँची। सब सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—"हम स्वतन्त्र थोड़े ही हैं। जनार्दन भगवान् हमें जैसे प्रेरणा करते हैं वैसा ही करते हैं। तू उनके शरीर में लग जा।"

हत्या इतनी दूर चलते-चलते थक गई थी, किन्तु उसका तो काम ही यह है, हत्या करने वाले के शरीर में जाकर चिपट जाना। अतः वह जैसे तैसे सुस्ता-सुस्ता कर भगवान् जनार्दन के समीप पहुँची और बोली—"भगवन्! मैं आपके शरीर में लगूँगी।"

भगवान् ने कहा—"तू मेरे शरीर में क्यों लगना चाहती है ?"

हत्या ने कहा—"महाराज! वह जो गौ मार डाली है, किसी के शरीर में तो मुझे लगना ही है।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"वाह! यह अच्छा रहा मारे कोई तू लगे किसी के शरीर में। उस ज्ञान मानी ने गौ को मारा है, उसी के शरीर में लग जा।"

हत्या ने कहा—"भगवन्! वह तो कहता है, मैं कर्ता भोक्ता हूँ ही नहीं। फिर!"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अच्छा, वह यह कहता है, चलो मेरे साथ।"

अब क्या था। आगे-आगे वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाये भगवान् चल रहे थे, उनके पीछे-पीछे नीले वस्त्रों से अपने भयंकर मुख और रूखे बालों को छिपाये हुए हत्या चल रही थी। दोनों उस बगीचे में पहुँचे। वे ज्ञानमानी महाशय इधर-उधर टहल रहे थे। लाठी टेकते-टेकते, खाँसते-खाँसते वृद्ध ब्राह्मण वहाँ पहुँचे। देखते ही कहने लगे—"अहा हा हा! कैसा सुन्दर बगीचा है। इसके लगाने वाले धन्य हैं ? कितनी बुद्धिमानी से लगाया है, कैसे सुन्दर-सुन्दर वृक्ष संसार भर से लाकर यहाँ

इकट्ठे कर दिये हैं। उस पुरुष के पुण्य पुरुषार्थ की जितनी भी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। अपनी प्रशंसा मिश्री से भी अधिक मीठी, खीर से भी अधिक स्वादिष्ट और गुलाब जामुन से भी अधिक हृद्य लगती है। वह ज्ञानमानी सुनते ही उन ब्राह्मण के समीप आ गया। वह समझ गया, कि ये वृक्षों के पारखी हैं। अपनी कला की कोई कला कोविद मुक्तकंठ से प्रशंसा करे, तो कलाकार को अत्यधिक हार्दिक प्रसन्नता होती है। अतः वह प्रशंसा सुनते ही प्रणाम करके नम्रता के साथ सम्मुख खड़ा हो गया। अपनी लाठी को दृढ़ता से जमाकर और मोतिया विन्दु को जाली से ज्यादा सफेद आँखों को उठाकर बोले—"लालाजी ! आप ही बगीचे के स्वामी हैं क्या ?"

बनावटी नम्रता के साथ कहा—"अजी, भगवन् ! काहे के स्वामी हैं, मैं तो आपका सेवक हूँ।"

ब्राह्मण का पोपला मुख खिल गया। बड़े स्नेह से बोले—"अच्छा, साधु साधु। बड़ा सुन्दर बगीचा लगाया है। तुमने स्वयं ही इसे अपनी बुद्धि से लगाया है, या किसी योग्य अनुभवी माली से पूछकर लगवाया है ? वृक्ष ऐसे ढङ्ग से यथा स्थान लगे हैं, कि इस प्रकार साधारण बुद्धि का मनुष्य नहीं लगा सकता।"

अब तो ज्ञानमानी जी को अपनी चातुरी दिखाने का अवसर मिल गया। वह दृढ़ता के स्वर में बोले—"अजी, महाराज ! ये माली फाली क्या जाने। मैंने स्वयं दिन रात्रि परिश्रम करके इसे लगाया है।"

ब्राह्मण प्रसन्नता प्रकट करते हुये बोले—"हाँ, तभी तो आप बड़े बुद्धिमान् मालूम पड़ते हैं। ये संतरे कहाँ से मँगाये ?"

इस पर वे ज्ञानमानी बोले—"महाराज ! इन सन्तरों में बड़ा श्रम करना पड़ता है। चकोतरे की जड़ में कलम लगाई जाती

है। यदि ऊपर की डाली सूख गई, जड़ से कल्ला फोड़ दिया, तो सन्तरा न होकर चकोतरा हो जायगा। यदि गरमियों में मिट्टी हटाकर इनकी जड़ में धूप न दी गई, तो अच्छी तरह फलेंगे नहीं। पानी न दिया तो बहुत छोटे-छोटे खट्टे फल लगेंगे। इनमें एक प्रकार का जाला लग जाता है, उसे न हटाया तो फल ही न लगेंगे। इनमें बड़ा श्रम करना पड़ता है। नागपुर से इनकी पौध मँगाई है।"

ब्राह्मण बोले—"अजी, तुम तो बड़े बुद्धिमान हो। बागवानी की विद्या में आप पारंगत मालूम पड़ते हैं। ये लीची कहाँ से मँगाई ?"

ज्ञानमानी ने कहा—"महाराज ! मैंने बड़े श्रम से ये पहाड़ के नीचे द्रोणपुर से मँगाई है। ये बहुत बड़ी होती हैं, बड़ी मीठी होती हैं, इनमें जल हर समय चाहिये। जल के बिना ये फल नहीं देतीं। आगे चलकर ब्राह्मण ने पूछा—"ये आम देशी हैं या कलमी ?"

ज्ञानमानी ने कहा—महाराज ! ये मैंने काशी से मँगाकर लगाये हैं इनमें बड़ा श्रम मैंने किया है। कटि के बराबर भूमि को खोदकर उसके कंकर पत्थर निकालकर, पुरानी खाद मिलाकर तब ये लगाये जाते हैं, नीचे बालू भी डालते हैं कि तर रहे, पानी शीघ्र सोख न जाय। पानी का घड़ा भर कर उसमें छेद करके रख देते हैं, कि शनैः-शनैः पानी जड़ तक पहुँचता रहे, सदा ठंडक बनी रहे। ऐसे मैंने बहुत लगाये हैं।"

ब्राह्मण आगे बढ़ने लगे। वे महाशय अब अपने आप ही आवेग में आकर कहने लगे —"ये लाल गुलाब मैंने पूर्व से मँगाकर लगाये हैं, यह पीला गुलाब मैंने लगाया है, यह काला गुलाब मिलता ही नहीं, मैंने बड़े श्रम से मँगाया है। यह जुही मैंने लगाई है, यह बेला की लतर दूर से मँगाई है, यह चमेली मैंने

लगाई है।" इतने में ही चलते-चलते वृद्ध ब्राह्मण उस स्थान में पहुँचे, जहाँ गौ मरी पड़ी थी। ब्राह्मण ने अपने वृद्धपने की सरलता के स्वर में पूछा—"इस गौ को किसने मार दिया है?"

यह सुनकर वे ज्ञानमानी महाशय बोले—"हैं हैं महाराज! गौ को तो उसके प्रारब्ध ने मार दिया है "गुणा गुणेषु वर्तन्ते।"

यह सुनकर ब्राह्मण बड़े उच्चस्वर से हँसने लगे और बोले—"पौधे तैंने लगाये, गुलाब तैंने मँगाये, आम तैंने लगाये और गौ मैंने मारी। आम के फल मीठे-मीठे तू उड़ावे और गौ की हत्या को मेरे पास पठावे।" इतना कहकर भगवान् हत्या से बोले—"हत्या! तू लग जा इसके शरीर में।"

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की आज्ञा पाते ही हत्या उसके शरीर में चिपट गई। सो, ऋषियो! जो शुभ कर्म का कर्ता भोक्ता है, उसे किये हुए अशुभ कर्मों का भी फल भोगना ही पड़ेगा। इसीलिये इन्द्र एक वर्ष तक ब्रह्महत्या को धारण किये रहे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! फिर क्या हुआ? देवेन्द्र की ब्रह्महत्या फिर कैसे छूटी?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! जिस प्रकार इन्द्र ब्रह्महत्या से निवृत्त हुए उस कथा को मैं आपको सुनाऊँगा। आप सब दत्त चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

ऊसर पृथिवी होय ब्रह्महत्या के लच्छन।
यज्ञादिक शुभ कर्म नष्ट होवें तहँ तत्छन॥
गोंद तरुनि महँ होय करें जे वाकूँ भच्छन।
राग सहित तिहि खायँ पापमय होवै तनमन॥
दीखें मैले फैन जे, जल प्रवाह महँ जाइकें।
द्विज हत्या लखि पियो जल, बुदबुद फैन बचाइकें॥

इन्द्र की ब्रह्महत्या का बँटवारा

[३६१]

भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै ।
तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुद्रुमाः ॥
शश्वत्कामवरेणांहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः ।
द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहु र्मलम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ७, ८, ९, १० श्लोकांश)

छप्पय

चौथे दीन्हों भाग इन्द्र ने नारिनिकूँ जब ।
मास मास महँ प्रकट होहि अस्पर्श होहिँ तब ॥
रजो धर्म महँ निरत नारिकूँ नर जो जोहैं ।
धर्म कर्म ते हीन पापमय खलजन सो हैं ॥
भूलि समागम अज्ञ नर, रजस्वला तें करिगे ।
हत्यारे सम पातकी, अवसि नरक महँ परिगे ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इन्द्र के कहने पर ब्रह्महत्या का एक चौथाई भाग पृथ्वी ने ग्रहण किया । देवेन्द्र ने उसे वर दिया कि तुम्हारे गड्ढे अपने आप भर जायँगे । एक चौथाई भाग वृक्षों ने यह वर पाकर ग्रहण किया, कि कट जाने पर भी फिर उसकी शाखायें पनप जायँगीं । निरन्तर सम्भोग करने की शक्ति बनी रहे, इस वरदान को पाकर एक चौथाई भाग ब्रह्महत्या का स्त्रियों ने ग्रहण किया । जिस द्रव्य में मिला दिया जाय वह बढ़ जाय वा कूपादि से व्यय होने पर भी बढ़ता रहे यह वरदान पाकर एक चतुर्थांश भाग जल ने ग्रहण किया ।"

संसार में सब पर सब वस्तुएँ नहीं होतीं। हमारे अनुकूल जो वस्तुएँ हैं, वे दूसरे पर हैं, जो हमारे अनुकूल नहीं हैं, वह हम पर हैं। इसीलिये संसार में आदान-प्रदान की प्रथा है। इस आदान-प्रदान को ही व्यवहार या व्यापार कहते हैं। आत्मानन्द में प्रवेश करने के अतिरिक्त जितने भी कार्य हैं सभी में कुछ-न-कुछ वणिक् वृत्ति है, सभी व्यापार है। हमारे घर में अन्न तो बहुत है, किन्तु चीनी, नमक, तेल तथा कपड़े नहीं हैं। अतः हम अन्न को बेचकर उसके बदले में ये वस्तुयें लेते हैं। यद्यपि दूध बड़ी प्यारी वस्तु है, किन्तु हमें लत पड़ गई है धूम्रपान की, अतः दूध को बेचकर उसके बदले में तमालपत्र ले आते हैं। संसार में कुछ परोपकारी पुरुष भी होते हैं, जो अपने शरीर पर कष्ट सहकर दूसरों के दुखों को दूर करके उन्हें सुखी बनाते हैं। दूसरों की विपत्तियों को स्वतः ले लेते हैं। जो स्वेच्छा से परेच्छा से किसी को कुछ देता है, उसे उसका फल तो अवश्य ही मिलेगा। दिया हुआ व्यर्थ तो जायगा ही नहीं, उसका फल तो मिलेगा ही। यह भी है तो व्यापार ही, किन्तु यह उच्चतम व्यापार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे पूछा था, कि देवराज इन्द्र की ब्रह्महत्या कैसे छूटी, इसी प्रसंग को मैं आपको सुनाता हूँ। ब्रह्महत्या को लिये हुए अमराधिप इन्द्र तीनों लोकों में इधर-उधर घूमे। वे चाहते थे, किसी प्रकार मेरा इस ब्रह्महत्या से पिण्ड छूट जाय, किन्तु किये हुये का फल तो भोगना ही पड़ेगा। इन्द्र साल भर तक मारे-मारे फिरे। एक बार ऋषियों के समाज में देवेन्द्र ने दीन होकर प्रार्थना की, और हाथ जोड़कर वे मुनियों से बोले—"मुनियो! आप लोग कोई ऐसा उपाय बतावें जिससे मेरी ब्रह्महत्या छूट जाय।"

इस पर ऋषियों ने कहा—"देवेन्द्र! जिस प्रकार बड़ों का

यश अजर-अमर होता है, वैसे ही उनका अपयश भी सदा बना रहता है। उनसे कोई बुरा काम भी भूल में बन जाता है, तो वह भी सदा के लिये स्थाई हो जाता है। अतः आपकी यह ब्रह्म-हत्या तो अब स्थाई रहेगी। हाँ, एक उपाय है, यदि कोई स्वेच्छा से आपकी हत्या को ले ले तो आपके शरीर से तो वह पृथक् हो जायगी, किन्तु उसके शरीर में सदा स्थाई हो जायगी।"

इस पर दुखित होकर इन्द्र ने कहा—"स्वेच्छा से तो मेरी ब्रह्महत्या को कौन ग्रहण कर सकता है? संसार में जान बूझकर सदा के लिये दुःख कौन अपने सिर पर लाद सकता है?"

इस पर मुनियों ने कहा—"महाराज! आप मेरी बात न कहें। संसार में बहुत से ऐसे परोपकारी सत्पुरुष पड़े हैं, जो दूसरों के सुख के लिये अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थों का भी परित्याग कर देते हैं। आप जाकर तीनों लोकों में खोजिये।"

मुनियों की बात सुनकर देवेन्द्र तीनों लोकों में घूमते रहे। सबसे उन्होंने हत्या लेने को कहा। किन्तु जान बूझकर सदा के लिये ब्रह्महत्या को कौन ग्रहण करता। इन्द्र हताश होकर लौट आये। उन्होंने आकर ऋषियों से कहा—"ऋषियो! आपने भी मुझे व्यर्थ घुमाया। आप ही सोचें संसार में जान बूझकर ब्रह्म-हत्या जैसे पाप को कौन ग्रहण करेगा।"

इस पर मुनियों ने कहा—"हे स्वर्गाधिप अमरेश! परोपका-रियों के लिये कोई बात अशक्य नहीं, कुछ भी असम्भव नहीं। आपका पाप बहुत बड़ा है। एक की सामर्थ नहीं जो इसे ग्रहण कर सके। हम चार अत्यन्त ही परोपकारी व्यक्तियों का नाम बताते हैं। आप अपने पाप के चार भाग करके इन चारों में बाँट दें।"

यह सुनकर देवराज बोले—"हाँ भगवन्! बतावें उन चार परोपकारियों का नाम।"

इस पर एक वृद्ध-से बहुत अनुभवी ज्ञानी मुनि बोले—"हे अमराधिप ! यह ठीक है संसार में अधिकांश लोग स्वार्थी ही हैं, फिर भी कुछ परोपकारी प्राणी भी हैं। जैसे पृथ्वी को ही देखिये। पृथ्वी से बढ़कर परोपकारी संसार में कौन है। सभी प्राणियों को पृथ्वी उत्पन्न करती है। सभी जीवों को पृथ्वी ही धारण करती है, सभी के खाने को पृथ्वी ही अन्न उत्पन्न करती है। इस पर मलमूत्र त्याग दो, कुछ नहीं बोलती। चाहें जहाँ खोद दो, जोत दो बुरा न मानेगी। उलटे अन्न पानी ही निकालेगी। पृथ्वी से बढ़कर परोपकारी कौन है ? तुम अपनी ब्रह्महत्या का चौथाई भाग पृथ्वी को दो। वह लोक कल्याण के निमित्त उसे स्वीकार कर लेगी।"

पृथ्वी समीप ही खड़ी थी। इन्द्र ने पूछा—"क्यों भूदेवि ! तुम मेरी ब्रह्महत्या का चतुर्थांश ग्रहण करोगी ?"

इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए पृथ्वी ने कहा—"यदि आप तीनों लोकों के स्वामी निष्पाप हो जायँ तो लोक का हित होगा। मैं आपकी ब्रह्महत्या को सहर्ष अपने ऊपर धारण करूँगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! यह कहकर पृथ्वी ने ब्रह्महत्या का चतुर्थांश अपने ऊपर ले लिया। पहिले सर्वत्र पृथ्वी उर्वरा होती थी, कहीं भी ऊसर (बिना उपजाऊ भूमि) नहीं थी। उसी दिन से जहाँ-तहाँ पृथ्वी ऊसर हो गई। पृथ्वी का ऊसर होना यह ब्रह्महत्या का चिन्ह है, अतः ऊसर भूमि में यज्ञ-याग आदि पुण्य कार्य कभी न करने चाहिये। इन्द्र पृथ्वी की इस परोपकार वृत्ति से परम सन्तुष्ट हुए। इन्होंने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया—"कि तुम्हारे जहाँ कहीं गड्ढे आदि हो जायँगे, वे कालान्तर में स्वयं ही भर जाया करेंगे।"

अब एक भाग तो पृथ्वी ने ग्रहण कर लिया अब तीन भाग

और शेष रहे। इस पर इन्द्र ने मुनियों से कहा—"मुनियो! यद्यपि ब्रह्महत्या का एक भाग तो चला गया, किन्तु फिर भी तीन भाग तो अभी शेष ही हैं, इन्हें किनको दूँ?"

इस पर वे ही वृद्ध मुनि बोले—"देवराज! पृथ्वी की ही भाँति ये वृक्ष भी बड़े परोपकारी हैं। ये कितने सुन्दर-सुन्दर फलों को उत्पन्न करते हैं। स्वयं एक भी फल नहीं खाते, सब दूसरों को बाँट देते हैं। बुरी-बुरी खाद से पेट भरके, कैसे-कैसे सुन्दर पुष्पों को पैदा करते हैं। इनकी छाल भी काम में आती है, गुदा, जड़, फल, फूल, पत्ते सभी तो प्राणियों के उपभोग में ही आने वाले हैं। सूखने पर ईंधन बनकर प्राणियों का भोजन परिपक्व करते हैं। घरों के बनाने में काम आते हैं, अनेक उपयोगी अस्त्र-शस्त्र वर्तन आदि बनते हैं। जलकर कोयले होते हैं वे भी काम में आते हैं, कोयले की राख होती है उससे भी बहुतों के अनेक काम निकलते हैं। खाद बनती है, पत्तियों को पशु खाते हैं जिनसे दूध बनता है, जो प्राणियों का जीवन है। मरने पर इनके ईंधन से ही वर्णाश्रमी फूँके जाते हैं। कहाँ तक बतावें कि वृक्ष की एक-एक डाली एक-एक पत्ती सदा परोपकार में ही काम आती है। वृक्षों से बढ़कर परोपकारी और कौन होगा। एक चतुर्थांश इन्हें दे दो।"

इन्द्र ने वृक्षों के अधिष्ठातृ देवों से पूछा—"क्यों भाई! तुम लोग क्या कहते हो? मेरी ब्रह्महत्या को स्वीकार करोगे?"

वृक्षों ने कहा—"भगवन्! हम तो जड़ हैं। आप तो तीनों लोकों के स्वामी हैं। आपकी विशुद्धि से तीनों लोक विशुद्धि हो जायँगे। अतः हमें आपकी तथा ऋषियों की आज्ञा सहर्ष स्वीकार है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृक्षों के ऐसा कहने पर इन्द्र ने अपनी हत्या का एक भाग वृक्षों को दे दिया। पहले वृक्षों

में नियास गोंद नहीं होता था। उस दिन से वृक्षों में गोंद होने लगा, यह गोंद ही ब्रह्महत्या का वृक्षों में चिह्न है। अतः बुद्धिमान पुरुषों को भूलकर भी गोंद न खाना चाहिये। औषधि आदि के समय विवशता ही हो यह दूसरी बात है।"

जब वृक्षों ने ब्रह्महत्या का चतुर्थांश ग्रहण कर लिया तो देवेन्द्र ने अत्यन्त ही प्रसन्न होकर वरदान दिया कि तुम्हारी डाल कट जाने पर भी फिर पनप जाया करेगी। कोई काट भी देगा तो जड़ में से फिर तुम पैदा हो जाया करोगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जैसे मनुष्य का हाथ पैर कोई भी अंग काट दो तो वह फिर निकलता नहीं यही दशा वृक्षों की थी, जिस डाली को काट लेते थे वह फिर नहीं निकलती थी। जब से देवराज इन्द्र ने वरदान दिया तब से कटी हुई डालें फिर से निकलने लगीं।"

आधी ब्रह्महत्या तो बँट गयी, आधी के लिये देवेन्द्र पुनः चिन्तित हुआ। उन्होंने मुनियों से पूछा—"भगवन्! इस आधी के लिये स्थान और बताइये। दो कोई परोपकारी सेवावृत्त वाले और बतावें। इस पर वे ही वृद्ध मुनि बोले—"देवेन्द्र! जल से बढ़कर संसार में परोपकारी कौन हो सकता है, जल को जीवों का जीवन कहा गया है। प्राणी अन्न के बिना तो कुछ काल जीवित भी रह सकते हैं किन्तु जल के बिना जीवन दुर्लभ है। सबको पवित्र करने वाला जल ही है। जल में स्नान करने से मनुष्य पवित्र होता है। जल पर ही सृष्टि स्थित है। यह पृथ्वी नौका की भाँति जल पर ही तैर रही है। जो पृथ्वी सबको धारण करने के कारण धरा कहलाती है उस पृथ्वी को भी धारण करने वाले जल नारायण हैं अतः एक चौथाई भाग आप जल को दे सकते हैं।"

इन्द्र ने समीप ही उपस्थित जल के अधिष्ठातृ देव से पूछा—"क्योंजी तुम मेरी ब्रह्महत्या का चतुर्थांश ग्रहण कर सकते हो ?"

इस पर जल ने कहा—"महाराज ! मैं तो अत्यन्त ही पवित्र माना जाता हूँ, किन्तु परोपकार के निमित्त मैं आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करता हूँ।"

जल की स्वीकृति पाकर देवेन्द्र ने एक चौथाई ब्रह्महत्या जल को दे दी। जल में जो ये फैन बुद्बुद वहते हैं अधिकतर बर्षात में बहुत आते हैं यह ब्रह्महत्या का ही स्वरूप है। अतः जल पीते समय फैन और बुलबुलों को बचाकर ही पानी पीना चाहिये।

जल पर प्रसन्न होकर शचीपति शतक्रतु ने उसे वरदान दिया कि तुम्हारी वृद्धि हो जाय। वृद्धि इस प्रकार जैसे पाव भर दूध है तीन पाव पानी मिला, दूध सेर भर हो गया। जिस वस्तु में भी जल मिला दिया जाय वही बढ़ जाय। अथवा कुएँ आदि से जितना ही जल निकाला जाय, उतना ही बढ़ जाया करे।

अब एक चौथाई भाग ब्रह्महत्या का और रहा, इन्द्र ने पूछा—"भगवन् ! अब इस एक चौथाई को तो किसी परोपकारी पुरुष को बताइये, जो निरन्तर सेवा में ही संलग्न रहता हो, सेवा करना ही जिसके जीवन का चरम लक्ष्य हो ?"

देवेन्द्र की बात सुनकर वे अनुभवी वृद्ध मुनि बोले—"हे शचीपति ! पुरुष तो स्वार्थी पुरुष है। संसार में स्त्रियों से बढ़कर परोपकारी कोई भी न मिलेगा। यह सम्पूर्ण सृष्टि स्त्रियों के ही कारण है। स्त्री न हो तो संसार की वृद्धि न हो। इसलिये स्त्री को लोकमाता कहा गया है। अत्यन्त स्वार्थी और रूखा मनुष्य भी स्त्रियों को इतना चाहता है, वह इसीलिये कि वे सम्पूर्ण सुखों की देने वाली हैं। संसार में जितने भी इन्द्रिय सुख हैं वे कामिनी के कमनीय श्रीअंग में सन्निहित हैं। स्त्रियों का

जीवन आदि से अन्त तक परोपकार मय ही है। पैदा होते ही वे परोपकार में प्रवृत्त हो जाती हैं। जहाँ तनिक सयानी हुई कि माता के काम में हाथ बँटाने लगती है। माँ भोजन बनाते समय लड़की से ही कहती है—"बेटी! चिमटा ला, करछुल को उठा ला, साक अमनिया कर दे, मसाला पीस ले इत्यादि-इत्यादि। जहाँ और बड़ी हुई कि भोजन भी बनाने लगती है। उसके जितने छोटे बहिन भाई होते हैं, सबको लड़की ही खिलाती है, गोद में लेकर घुमाती है। घर भर के लोग लड़की पर ही आज्ञा चलाते हैं। बूढ़े लोग आकर कहते हैं—"बेटी, अपनी माँ से यह कह, वह कह। पानी ला, हाथ धुला। बिचारी चुपचाप सब काम करती है। इस प्रकार बालकपन में वह अपने घर भर की सेवा करती रहती है। बड़ी होने पर वह जन्म के घर को सदा के लिये छोड़ जाती है। एक अपरिचित पुरुष के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ती है। उस घर में जाकर भी सेवा के द्वारा घर के सभी लोगों को वश में करती है। सास है, ससुर है, देवर, जेठ सभी का काम करती है। अपना सब सुख और शरीर अर्पण करके पति को प्रसन्नता प्राप्त कराती है। गर्भ धारण करती है। नौ महीने बच्चे को पेट में लिये घूमती है। उसके पीछे नमक नहीं खाती, मिरच नहीं खाती, शरीर पीला पड़ जाता है, जी मिचलाता सा-रहता है। फिर प्रसव की अत्यन्त असह्य पीड़ा को सहकर बच्चे को उत्पन्न करती है। उसके मुख को देखकर सब पीड़ाओं को भूल जाती है। प्राणों की भाँति उसका पालन करती है। रात्रि दिन उसी की चिन्ता में लगी रहती है। उसके मल-मूत्र को साफ करती है। बच्चा जब चाहता है मल मूत्र करके उसके कपड़ों को अपवित्र कर देता है, वह न झुँझलाती है न इस अपराध पर बच्चे को मारती है। उसे साथ में लेकर सोती है। सोते समय उसने मूत्र कर दिया तो गीले में स्वयं

सो जाती है उसे सूखे में सुलाती है। एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा बच्चा। इस प्रकार बच्चे बढ़ते जाते हैं सभी का समान भाव से बिना मन मैला किये पालन करती हैं। बड़े हो जाने पर घर का द्रव्य व्यय करके उनका विवाह करके प्रसन्न होती है। भोजन-वस्त्र सभी का प्रबन्ध करती है। उसे रात्रि दिन दूसरों की ही चिन्ता रहती है। नारी का जीवन ही दूसरों के सुख के लिये है। स्त्री कभी बेकार न बैठेगी। वह कुछ न कुछ दूसरों के सुख के लिये काम करती ही रहेगी। कपड़ा सीना, चरखा कातना, बेल बूटे बनाना आदि छोटे से लेकर बड़े से बड़े कार्यों को करने में उसे आनन्द आता है। कार्य करने का उसका सहज स्वभाव है। कथा में भी बैठेंगी, तो वहाँ भी भगवान् के लिये फूलबत्ती बनाना, हार गूँथना, भगवान् के नैवेद्य की वस्तुओं को स्वच्छ करना आदि कामों को हाथों से करती रहेंगी। कानों से भगवान् की कथायें सुनती रहेंगी। स्त्री ने जीवन में एक ही मंत्र सीखा है परोपकार। यह संसार स्त्रियों द्वारा ही सुचारु रीति से चल रहा है। नहीं तो यह मनुष्य नामक जन्तु तो बड़ा क्रूर अत्यन्त ही शुष्क प्रकृति का नीरस प्राणी है। इसमें सरसता का संचार परोपकारिणी नारी ही करती है। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा सेवा भाव, लज्जा, सौन्दर्य, सुकुमारता, कोमलता, लावण्य, आकर्षण, मधुरता सरसता आदि सद्गुण अत्यधिक होते हैं। उनसे लक्ष्मी देवी रूठ जाती है। जिस घर में स्त्रियों का आदर न होगा, उस घर में चिरकाल तक लक्ष्मी का निवास हो ही नहीं सकता। अपनी जाति का सभी को पक्षपात होता है। लक्ष्मी देवी नारी हैं। इसीलिए नारियों के प्रति उनका अधिक पक्षपात है। हे अमरेश! आपने देखा होगा, बड़े-बड़े सम्पन्न घरों में स्त्रियों का कितना आदर होता है। पुरुष बिना स्त्रियों के पूछे कुछ करते नहीं। धनिकों के घरों में प्रायः

समस्त ताली कुंजी घर वाली पर ही रहती है। तभी वहाँ लक्ष्मी टिकती हैं। जो दरिद्र बात-बात पर स्त्रियों को डाँटते डपटते हैं मारते पीटते हैं, उनका आदर नहीं करते, पैसे-पैसे का हिसाब लेते हैं, उन्हें कभी पेट भर अन्न नहीं मिल सकता। पुरुष घर से बाहर का रुपये कमाने का स्वामी है। स्त्री घर की स्वामिनी है। इसलिये उसे गृहिणी कहा है। वह अपने घर को गौ के गोबर से लीप-कर लक्ष्मीजी को बुलाती रहती है, क्योंकि गौ के गोबर में लक्ष्मीजी का निवास है। लक्ष्मीजी सदा बनी ठनी रहती हैं, उन्हें मैला कुचैलापन प्रिय नहीं। पुराण पुरुष पुरुषोत्तम की प्रियतमा ठहरीं, इसलिये वे स्वच्छता का बड़ा आदर करती हैं। जो स्त्री अपने अंगों को, वस्त्रों को, घर को, स्वच्छ रखती है और पुरुषों द्वारा सत्कृत होकर सदा हँसती रहती है उससे लक्ष्मीजी भायेला जोड़ लेती हैं। उसकी भायला सहेली बनके उसके समीप रहती हैं। स्त्रियों का अपमान करना मानों साक्षात् नारायण की महरारू लक्ष्मीजी का अपमान करना है। संसार में स्त्रियों से बढ़कर परोपकारी कोई भी प्राणी नहीं। अतः तुम अपनी हत्या का चौथाई पाप इन्हें दे दो।"

अमरेश शचीपति तो स्त्रियों की ऐसी महिमा सुनकर डर गये और डरते-डरते स्त्रियों से पूछने लगे—"क्या आप लोग मेरी इस ब्रह्महत्या को स्वीकार करेंगी ?"

स्त्रियों ने कहा—"देवेन्द्र ! हमारा तो जीवन ही दूसरों के लिये है। यदि आप त्रिलोकीनाथ का भी हमारे द्वारा कोई उपकार हो जाय, तो हमें ब्रह्महत्या स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं।"

यह सुनकर इन्द्र ने अपनी ब्रह्महत्या का चतुर्थांश स्त्रियों को दे दिया। स्त्रियों को जो प्रत्येक महीने मासिक धर्म होता है, यह उसी ब्रह्महत्या का चिन्ह है। अतः उस समय रजस्वला स्त्री

को न स्नान करना चाहिये, न घर की किसी सामग्री का स्पर्श करना चाहिये, न किसी के सामने ही होना चाहिये। पुरुषों का भी धर्म है, कि रजस्वला स्त्री के सम्पर्क से सदा बचा रहे। जो उनसे सम्पर्क रखते हैं उन लोगों को भी ब्रह्महत्या के संसर्गी का-सा पाप लगता है।

स्त्रियों के इस त्याग को देखकर इन्द्र ने उन्हें वरदान दिया कि तुममें निरन्तर सम्भोग करने की शक्ति बनी रहेगी। उसके लिये कोई समय निर्दिष्ट न रहेगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जैसे पशुओं में गर्भाधान के समय ही ऋतु आने पर एक बार काम वासना उत्पन्न होती है। गर्भिणी हो जाने पर पशु माताओं में फिर कामवासना नहीं उठती। इससे पहिले स्त्रियों में भी यही बात थी। साल में एक बार ही इच्छा होती थी। जब से देवराज इन्द्र ने वरदान दिया तब से इनमें निरन्तर कामवासना रहने लगी। जब चाहें पति समागम कर सकती हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! स्त्रियों के लिये यह वरदान हुआ या शाप हुआ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! अब आपको क्या बताऊँ।"

इस प्रश्न को आप न पूछें तो अच्छा है। यहाँ ऋषियों की मण्डली में कैसे समझाऊँ इस विषयों को। कुछ बातें ऐसी होती हैं जो स्पष्ट समझाई जा सकती हैं। कुछ संकेत द्वारा समझाई जाती हैं, महाराज! कथा कहने वाले की वृत्ति बड़ी बुरी है। इसमें भला बुरा, योग्य अयोग्य सब कुछ समझाना पड़ता है। देवराज इन्द्र ने स्त्रियों को प्रसन्न करने के निमित्त उनके मनोनुकूल ही वरदान दिया। इस विषय में मैं आपको एक अत्यन्त ही प्राचीन पौराणिक दृष्टांत सुनाये देता हूँ। आप सब बुद्धिमान्

हैं, बुद्धिमानों को संकेत ही पर्याप्त होता है। उसी के द्वारा अनुमान कर लें।

प्राचीन काल में एक राजा थे। उनके सौ पुत्र हुए। एक बार वे बाहर गये। इन्द्र के शाप से वे स्त्री बन गये। एक पुरुष के साथ उनका विवाह हो गया। अब राजा से रानी बन गये। स्त्री शरीर से भी उनके सौ लड़के हुए। इन्द्र इनके समीप आये और आकर बोले—"देखो, तुम्हारे सौ ही लड़के रहेंगे। मैं तुम्हें वरदान देकर फिर पुरुष बना सकता हूँ। तुम बताओ ये जो राजा रूप में जो तुम्हारे सौ पुत्र हैं उन्हें छोड़ दूँ या रानी बनकर जो तुमने सौ पुत्र पैदा किये हैं उन्हें छोड़ दूँ। जिन्हें कहो वे बच जायँगे शेष मर जायँगे और यह भी बताओ तुम पुरुष होना चाहते हो या स्त्री ही बने रहना चाहते हो ?"

इस पर उस रानी बने हुए राजा ने कहा—"देवेन्द्र ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मेरे उन्हीं पुत्रों को चिरंजीवी बना दीजिये जो मैंने स्त्री शरीर से उत्पन्न किये हैं।"

इस पर आश्चर्य के साथ इन्द्रदेव ने पूछा—"ऐसा वरदान तुम क्यों माँगते हो ?"

इस पर वह रानी बने राजा बोले—"महाराज ! पिता की अपेक्षा माता का पुत्रों में अधिक स्नेह होता है। पुत्रों का जितना मोह माता को होता है उतना पिता को नहीं होता। इसीलिये मैं मातृ रूप में उत्पन्न किये हुए पुत्रों का पहिले पुत्रों की अपेक्षा अधिक प्यार करती हूँ।"

इस पर फिर इन्द्र ने पूछा—"अच्छा तुम पुरुष होना चाहते हो या स्त्री ही बने रहना प्रिय है।"

अत्यन्त लजाते हुए उसने कहा—"अब देवेन्द्र ! सबके सामने

मेरी हँसी क्यों कराते हैं। ऐसे ही गोलमाल बात को रहने दो, मैं जहाँ हूँ ठीक हूँ।"

आश्चर्य के साथ इन्द्र ने पूछा—"अरे, तुम चूड़ी पहिनकर नाक छिदाकर पुरुष की अपेक्षा स्त्री बने रहना क्यों चाहते हो? स्त्री शरीर में ऐसा क्या सुख है?"

अत्यन्त लजाते हुए उसने नख से पृथ्वी को कुरेदते हुए धीरे से कहा—"अब आप बिना स्पष्ट कराये मानोगे थोड़े ही। बात यह है कि पति पत्नी दोनों में पति की अपेक्षा पत्नी को रति सुख में अत्यधिक आनन्दानुभव होता है। अतः अब मैं दाढ़ी मूँछ लगाकर पुरुष बनना नहीं चाहती।" सो, मुनियो, गोविन्दाय मनो नमः, तुम्हारा रामजी भला करें, अब आप दूसरा कोई प्रश्न कीजिये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! जब विश्वरूप को मार दिया, तो उनके पिता महामुनि त्वष्टा को तो बड़ा क्रोध हुआ होगा। उन्होंने देवताओं से बदला लेने का कुछ प्रयत्न नहीं किया। बात आगे बढ़ी कि यों ही गोलमाल होकर समाप्त हो गई?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! जो असमर्थ पुरुष होते हैं, वे ही मन मसोस कर चुपचाप बैठ जाते हैं। समर्थ पुरुष तो बिना बदला लिये छोड़ते नहीं। कोई-कोई ब्रह्मज्ञानी इसके अपवाद भी होते हैं, किन्तु साधारणतया समर्थ पुरुष इस प्रकार घोर अपमान को सहन नहीं कर सकते। विश्वरूपजी के वध के कारण तो बड़ा भारी कांड हुआ। देवताओं और असुरों में बहुत काल पर्यन्त बड़ा घोर ऐतिहासिक महायुद्ध हुआ। उसका संक्षिप्त वर्णन मैं आपको सुनाऊँगा। आप इसे सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

नारि वृक्ष जल भूमि पाइ वरदान सिहाये।
इन्द्र भये निष्पाप मुदित है स्वर्ग सिधाये॥
द्विज हत्या तो गई शत्रुता सिर पै आई।
विश्वरूप पितु कुपित भये सुन इन्द्र ढिठाई॥
त्वष्टा मन निश्चय कर्‌यो, इन्द्र नीचता हरुङ्गो।
जो मारे जा इन्द्रकूँ, अस नर पैदा करुङ्गो॥

त्वष्टा द्वारा वृत्रासुर की उत्पत्ति

(३९२)

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे ।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व मा चिरं जहि विद्विषम् ॥
अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः ।
कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ११-१२ श्लो०)

छप्पय

ऐसो मन महँ सोचि हवन मुनिवर ने कीन्हों ।
'इन्द्र शत्रु बढ़िजाउ' मंत्र पढ़िकें हवि दीन्हों ॥
मंत्र शक्ति अति अमित तुरत इक उपज्यो प्रानी ।
महा भयंकर वृत्र बली अतिशय अभिमानी ॥
लाल मूँछ दाढ़ी अरुन, बरन नयन प्रलयाग्नि सम ।
अञ्जन परवत के सरिस, सुररिपु तेजस्वी परम ॥

---

* शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महामुनि त्वष्टा ने जब अपने पुत्र विश्वरूप के मारे जाने का समाचार सुना, तब इन्द्र शत्रु को उत्पन्न करने के निमित्त 'हे इन्द्र शत्रुओ ! तुम वृद्धि को प्राप्त होकर शीघ्र ही अपने शत्रु का संहार करो, इस सङ्कल्प से अग्नि में हवन किया । हवन करते ही उसी क्षण अन्वाहार्य पचन नामक अग्नि से एक घोर दर्शन विकराल काल के समान प्रलय काल में लोकों का संहार करने वाले काल के समान विकराल-पुरुष उत्पन्न हुआ ।"

संसार में कष्ट ही कष्ट है, पग पग पर कष्ट हैं। बाल्य-काल से वृद्धावस्था तक कष्ट ही कष्ट हैं, सुख भी हैं, किन्तु वे क्षणिक रसना-उपस्थ आदि के सुख अत्यन्त ही आसक्ति बढ़ाने वाले, गृह जाल में फँसाने वाले, स्वर्गनरक पहुँचाने वाले हैं, किन्तु उनका सुख स्थाई नहीं। उपभोग कर लेने पर ये फीके पड़ जाते हैं और अधिक बढ़ जाते हैं, वासना की वृद्धि करते हैं, परिणाम के सुखद न होकर दुखद ही प्रतीत होते हैं। जिस सामग्री को हम सुख देने वाली समझते हैं, अन्त में वही दुख का कारण बन जाती है। वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, स्वयं कर्म करने की शक्ति नहीं रहती, बल घट जाता है, तृष्णा बढ़ जाती है। विषयों के भोगने की शक्ति रहती नहीं, किन्तु उनमें आसक्ति बनी ही रहती है। अतः वृद्धावस्था को अधिक कष्टकारिणी बताया है। वृद्धावस्था से भी कष्ट प्रद है, परिवार वाला गृहस्थी होने पर धनहीन होकर जीवन यापन करना। निर्धन को कितना कष्ट होता है। पग-पग पर उसे कितने-कितने अपमान, तिरस्कार, दुःख आदि सहने पड़ते हैं, इसे बिना निर्धन हुए कोई अनुभव कर ही नहीं सकते। इन सब कष्टों से बढ़कर है पुत्र शोक। जिसका इकलौता पुत्र हो, योग्य हो, होनहार हो, उसे कोई अन्याय से मार दे, तो पिता कितना भी ज्ञानी ध्यानी क्यों न हो, मारने वाले के प्रति उसे महान् द्वेष होता है और शक्ति भर अपने पुत्रहन्ता से बदला लेने का प्रयत्न करता है, क्योंकि पुत्र तो अपनी ही आत्मा है। आत्मघाती का वध करना पाप नहीं, वह तो कर्तव्य है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब महामुनि त्वष्टा ने इन्द्र द्वारा अपने पुत्र विश्वरूप के मारे जाने का वृत्त सुना तो पुत्र शोक के कारण वे अत्यन्त ही व्याकुल हो गये, उनके रोम-रोम में क्रोध व्याप्त हो गया। मुनिवर क्रोध में भरकर सोचने

लगे—"यह इन्द्र कितना नीच है, पहिले तो मेरे पुत्र को फुसला-कर ले गया. उसे गुरु बनाया, आचार्य के सिंहासन पर बिठाया, उपाध्याय का आदरणीय कार्य कराया, नारायण कवच की दीक्षा ली, असुरों पर विजय प्राप्त की और अन्त में उसे असावधाना-वस्था में मार डाला। यह तो विश्वासघात है, प्रत्यक्ष अन्याय है, आततायीपने का कार्य है। आततायी सदा ही बधार्हण माना गया है, अतः मैं इस दुष्ट को इसका प्रतिफल चखाऊँगा, इसे भी विश्वरूप के समीप पठाऊँगा, मृत्यु के साथ इसका भी साक्षात्कार कराऊँगा। इसे अपने बल पौरुष का बड़ा अभिमान है, यह समझता है मुझे कोई जीत नहीं सकता। मैं एक ऐसा बली पुत्र उत्पन्न करूँगा, जो इस इन्द्र के दाँत खट्टे करदे, इसकी सब चौकड़ी भुलादे और इसे बिना प्रवेशपत्र के तत्क्षण यम सदन पठादे। इस प्रकार क्रोध करके मुनिवर ने अपना हवन करने का स्रवा उठाया। उन्होंने एक प्रकार की विशेष अग्नि उत्पन्न की, जैसे गार्हपत्य, प्रजापत्य और दक्षिणाग्नि तीन अग्नियां होती हैं. उन्होंने इस कार्य के लिये एक "अन्वाहार्य पचन" नामक विशिष्ट अग्नि को उत्पन्न करके उसमें हवन किया। उन्होंने इन्द्र के मारने वाले प्रबल भयंकर शत्रु के उत्पन्न करने के संकल्प से मन्त्र पढ़कर विधि पूर्वक हवि दी।

मंत्रों का प्रभाव अमोघ होता है, उपासना से प्रभाव से मुनियों के संकल्प, वचन और कार्य अव्यर्थ होते हैं। विधिविधान पूर्वक वे जो कुछ भी करना चाहते हैं वह तत्क्षण हो जाता है। मुनिवर त्वष्टा के आहुति देते ही उस अन्वाहार्य पचन अग्नि से एक अत्यंत भयंकर विशालकाय पुरुष उत्पन्न हुआ। वह देखने में बड़ा ही भयंकर था, उसके सम्पूर्ण शरीर का वर्ण काले रंग का था। वह सन्ध्याकालीन मेघमाला के समान अंजन के पर्वत पर मानों सूर्य की किरणें पड़ कर चमक रही

हों, इस प्रकार तेज से चमचमा रहा था। उसके बाल कड़े, ऊपर उठे, तपाये तांबें के समान लाल-लाल और भयंकर थे। दाढ़ी मूछें बड़ी-बड़ी लम्बी कई कोसों तक फैली हुई थीं। वह उसके ओठों पर ऐसी ही लगी थीं मानों अंजन के दो पर्वत शिखरों पर खड़े काले वृक्षों पर अमरवेल फैल रही हो। उसकी भुजायें लम्बी-लम्बी और स्वर्ग को छूने वाले साखू के लम्बे-लम्बे वृक्षों के समान थीं। उसके दोनों नेत्र मध्याह्न काल के सूर्य के समान उग्र और अरुण वर्ण के थे। वे उसी प्रकार चमक रहे थे मानों उदयाचल में दो बाल सूर्य चमक रहे हों। उसकी नासिका पर्वत कंदरा के समान भयंकर थी। उसकी दाढ़ें तीक्ष्ण भयानक और कुदाल के समान लम्बी तथा डरावनी थीं। मुख अंधकूप के समान भयंकर और चौड़ा था, उसमें लाल-लाल जिह्वा उसी प्रकार लपलपा रही थी मानों कोई लाल वर्ण का भयंकर चंचल अजगर अंधेरे कूए को व्याप्त करके बाहर फन को घुमा रहा हो। गिरिगुहा के समान गंभीर मुख से वह मानों सम्पूर्ण आकाश को पी जाना चाहता है तथा आकाश में उदित नक्षत्रों को अपनी भयङ्कर लपलपाती जिह्वा से चाट जाना चाहता है। जीभ से ओठों को चाटते समय जो उसकी विकराल विशाल दाढ़ें खुलती और बन्द होती थीं, उससे ऐसा प्रतीत होता था, मानों यह तीनों लोकों को निगल जाने का उपक्रम कर रहा है। उसके बढ़ने की कोई सीमा नहीं थी, क्षण-क्षण में वह बढ़ता था। चौड़ाई में बारह सौ कोस हो गया। बढ़ते-बढ़ते वह आकाश में दो हजार कोस तक लम्बा बढ़ गया। उसे पुरुष कहना, जीव जन्तु बताना पाप है। वह तो सर्वलोक संहारक प्रलय-कालिक विकराल काल के समान दुर्धर्ष भयङ्कर और अप्रतिम था। वह ऐसा लगता था मानों सुमेरु पर किसी ने कालिख पोत दी हो। वह बार बार अपने भयङ्कर त्रिशूल को घुमाकर जब

जमुहाई लेता था, तब उसके विकराल भयङ्कर रूप को देखकर सब लोग अत्यन्त भयभीत हो जाते और दशों दिशाओं में प्राणों के मोह से भागने लगते। वह महातमोगुणी महापापी, परम दारुण दैत्य इतना बढ़ा कि उसने अपने भयङ्कर शरीर से तीनों लोकों को आवृत कर लिया ढक लिया, इसीलिए वह "वृत" इस नाम से विख्यात हुआ।

उत्पन्न होते ही उसने पिता त्वष्टा से पूछा—"पिताजी! मुझे आपने क्यों उत्पन्न किया है, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?"

यह सुनकर क्रोध में भरकर महामुनि त्वष्टा ने कहा—"वत्स ! सुराधिप अधम इन्द्र ने तेरे भाई को अन्याय से मार डाला है, अतः तू जाकर उस इन्द्र को मार कर अपने भाई का बदला ले ले। स्वर्ग को इन्द्र से हीन कर दे।"

अपने पिता की आज्ञा पाकर वह भङ्कर दैत्य वहाँ से चला। उसके साथ सभी असुर हो गये। असुरों ने उसे अपना अग्रणी मान लिया। असुरों के आचार्य शुक्र ने उसका स्वस्त्ययन किया, उसकी विजय के लिये स्तोत्रों का पाठ किया और उसे विजय का वरदान दिया। इस प्रकार असुरों द्वारा सम्मानित और पूजित होकर परमपराक्रमी वृत्तासुर घोर गर्जना करता हुआ, अपने पैरों के प्रहार से पृथ्वी को कँपाता हुआ ऐसा चला मानों अपने त्रिशूल पर पृथ्वी और आकाश को उठाकर नृत्य कर रहा हो। उसके पैरों में बँधे नूपुर छम्म छम्म बज रहे थे, मानों किसी चलते फिरते पहाड़ में संगीत हो रहा हो। आगे-आगे वह देवताओं का कंटक महापराक्रमी असुर चल रहा था और पीछे-पीछे सभी दैत्य दानव उसका जय-जयकार करते हुए चल रहे थे।

देवताओं ने जब यह बात सुनी, तब तो उनकी सिटिल्ली

भूल गई। वे तो उसके विकराल रूप को ही देखकर भयभीत हो गये, किन्तु करते क्या? युद्ध के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। उससे भागकर कोई कहाँ जा सकता था। उसने तीनों लोकों को त्रिविक्रम वामन भगवान् के समान आवृत कर रखा था। देवता घबड़ा तो गये किन्तु युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई गति न देखकर वे भी सब मिलकर संघ के सहित उस पर आक्रमण करने के निमित्त उद्यत हो गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विश्वरूप के वध के अनन्तर फिर वृत्रासुर और सुरों का युद्ध आरम्भ हुआ।"

छप्पय

छिन छिन महँ वह बढ़े लोक तीनों ढकि लीन्हें।
देव मारतें बिकल असुर सब निर्भय कीन्हें॥
पूछे पितुतें वृत्र तात! हौं करूँ कहा अब।
मोकूँ कछु न अशक्य, काज हौं प्रभो करूँ सब॥
त्वष्टा सुनि सुनि इन्द्र को, कह्यो वृत्त सब वृत्र तें।
इन्द्र मारि देवनि करो, रहित चमर अरु छत्र तें॥

वृत्र की विजय और देवताओं की पराजय

[३६३]

तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः।
स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत्तानि कृत्स्नशः॥
ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः।
प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः॥*

(श्री भा० ६ स्क० ९ अ० १९, २० श्लो०)

छप्पय

वृत्रासुर सुनि पिता वचन सब असुर बुलाये।
शुक्र पुरोहित आइ विजय के कृत्य कराये॥
मदमाते सब असुर चले रण शस्त्र घुमावें।
गर्जन तर्जन करत वृत्र बल समुझि सिहावें॥
आवत देख्यो असुर दल, सब शस्त्रनि लै भिर गये।
वृत्र पराक्रम निरखि कें, विस्मित सब सुरगन भये॥

जहाँ एक ओर धर्म हो और दूसरी ओर दम्भ मिश्रित धर्म

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब वृत्र देवताओं से युद्ध करने गया तब सम्पूर्ण देवगण उस पर मिलकर एक साथ आक्रमण करते हुए अपने दिव्य अस्त्र शस्त्रों से उस पर प्रहार करने लगे। किन्तु वह उन सबको निगल जाता था। इस बात को देखकर सभी देवता बड़े चकित हुए। वे तेजोहीन और उदास होकर एकाग्रचित्त से अन्तःकरण में स्थित आदि पुरुष श्रीहरि की स्तुति करने लगे।"

हो, तो धर्म की ही विजय होती है। किन्तु जहाँ एक ओर बलवान् अधर्म हो और दूसरी ओर निर्बल धर्म हो, तो वहाँ बलवान् अधर्म की ही विजय होती है। घोर तमोगुण में और निर्बल सतोगुण में घोर तम ही जीत जाता है। देवता जब तक श्रीहरि को सर्वस्व समझकर धर्म करते रहते हैं, तब तक तो वे स्वर्ग सुख के अधिकारी माने जाते हैं, जहाँ वे अपने को कर्ता-धर्ता मानकर मनमानी करने लगते हैं, दम्भ छल कपट का आश्रय लेकर ऐश्वर्य सुखोपभोग करने को व्यग्र हो जाते हैं, वहाँ असुर उन्हें जीत लेते हैं। क्योंकि असुर देवताओं से शारीरिक बल में छल, कपट, दम्भ माया और अस्त्र-शस्त्र विद्या में बढ़-चढ़कर होते हैं। असुरों से देवताओं में इतनी ही विशेषता है, कि देवता अपना सर्वस्व. रक्षक श्रीहरि को ही समझते हैं और असुर अपने पुरुषार्थ द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करना चाहते हैं। पुरुषार्थ से भी इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है, किन्तु वह संशय ग्रस्त और अस्थाई मानी जाती है। हरिस्मृति तो सर्व विपदाओं को विमोचण करने वाली होती है, इसमें सन्देह नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जब युद्ध के लिये वृत्रासुर को देवताओं ने उद्यत देखा, तो वे शूल, पट्टिश, तोमर, खड्ग, भुसुंडी धनुष बाण आदि आयुध लेकर वृत्र और उसके अनुयायियों के ऊपर दौड़े। समस्त देवताओं ने मिलकर वृत्र को घेर लिया। वे उस पर अपने तीखे-तीखे अमोघ अस्त्रों को चलाने लगे, किन्तु वे सबके सब व्यर्थ हो जाते। बाण उसके शरीर में लगकर उसी प्रकार टूट जाते थे, जैसे पाषाण खण्ड में मारने पर खड्ग टूट जाता है। बड़े-बड़े दिव्य अस्त्र उसके शरीर में घुसने को तो कौन कहे, तनिक-सा घाव भी नहीं कर सकते थे। जिस प्रकार पत्थर का पर्वत घनघोर वर्षा को सहता है, जिस प्रकार सुदृढ़ लम्बी-लम्बी जड़ों वाला वृक्ष आँधी के

वेग को सहता है, जैसे क्षमावान् पुरुष दुष्टों के कटु वचनों को सहता है, जैसे हाथी मच्छरों के डंकों को सहता है, उसी प्रकार वह देवताओं के अस्त्र-शस्त्रों को सहने लगा। जब बड़े-बड़े अस्त्रों से उसकी त्वचा में तनिक-सी खुरसट भी न लगी, तो देवता बड़े घबड़ाये। वह बिना विरोध किये सुमेरु के समान खड़ा-खड़ा हँस रहा था। देवता चारों ओर से एक साथ ही उसके ऊपर आक्रमण करके दिव्य अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार कर रहे थे, अब तो उसे एक हँसी सूझी और खिल-खिलाकर हँसता हुआ बोला—"अरे, देवताओ! मैंने तो तुम लोगों की बड़ी प्रशंसा सुनी थी, कि तुम यों बली हो त्यों बली हो, किन्तु तुम बली फली कुछ भी नहीं। रणविद्या में सर्वथा कोरे ही हो। मैं समझता था, तुम मुझे संग्राम में सन्तुष्ट कर सकोगे, किन्तु सन्तुष्ट करने की बात तो पृथक् रही, तुम मेरी त्वचा तनिक भी नहीं काट सके। मेरे शरीर से एक बिन्दु रक्त भी नहीं निकाल सके।"

यह सुनकर लज्जित हुए देवता कहने लगे—"हे असुरराज! हमारे तो सभी अस्त्र-शस्त्र तुम्हारे शरीर में कुंठीत हो रहे हैं। प्रतीत होता है तुम्हारा शरीर वज्र का बना हुआ है। उनके प्रयत्न करने पर भी अस्त्र आपके अङ्ग में नहीं गड़ते, अब हम युद्ध कैसे करें?"

यह सुनकर हँसता हुआ वह असुर बोला—"देवताओ! मेरा सम्पूर्ण शरीर तो बहुत कठोर है, उसमें तुम्हारे सब अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो जायँगे। तुम लोग एक काम करो, मेरी जिह्वा सबसे कोमल है, तुम सब मिलकर उसी पर अपने समस्त अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार करो।"

यह सुनकर देवताओं को बड़ी प्रसन्नता हुई। यह तो अद्भुत शत्रु है, अपनी पराजय को बात स्वयं बताता है। उसकी बात को मानकर इन्द्र, वरुण, कुबेर यम आदि मुख्य-

मुख्य देवतागण अपने-अपने अस्त्रों को सम्हाल कर खड़े हो गये। उसने अपनी जिह्वा मुख से बाहर की। वह जिह्वा क्या थी, रक्त वर्ण में रँगी हुई गंगोत्री से गंगासागर पर्यन्त गंगाजी की धारा के समान थी। उसका मुख फटा था, मानों कैलाश की कन्दरा से गेरू में रँगी गंगाजी की धारा चमक रही हो। सभी देवताओं ने उसकी जीभ पर एक साथ ही प्रहार किये। उस पट्ठे ने क्या काम किया सभी अस्त्र शस्त्रों को मुख में बन्द करके निगल गया। निःशस्त्र हुए देवता देखते के देखते ही रह गये। अस्त्र हीन होने पर वे सब रण को छोड़कर उसी प्रकार भागे जैसे गाँव में आग लग जाने पर सब अपने-अपने घरों को छोड़कर भाग जाते हैं।

वृत्रासुर तो धर्म के मर्म को जानने वाला था। वह तो धर्म विरुद्ध कभी कूट युद्ध करता ही नहीं। अतः असुर ने भयभीत हुए रण से भागने वाले देवताओं का न तो पीछा ही किया और न उन पर प्रहार ही किया। देवता अपने-अपने प्राणों की रक्षा करते हुए वहाँ से मुट्ठी बाँध कर भागे। वृत्र की इस विजय को देखकर असुरों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे शंख, दुन्दुभी, पणव, तुरही आदि विजय के बाजे बजाने लगे। आनन्द मनाने लगे, हँसने और किलकारियाँ मारने लगे।

वृत्र के ऐसे बल पराक्रम को देखकर असुरगण परम सन्तुष्ट हुए, उन सबने मिलकर वृत्रासुर को असुरों का राजा बना दिया। सभी उसकी छत्र छाया में रहकर स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने लगे। इधर देवता भी अपनी कहीं शरण न देखकर तेजोहीन तथा उदास होकर निश्चय पूर्वक श्रीमन्ना-रायण की उपासना करने लगे।"

—०—

छप्पय

बोल्यो उनतें वृत्र देव ! तुम सब अज्ञानी।
अरे, तुमनि मम देह वज्रकी बनी न जानी॥
अति कोमल मम जीभ ताहि पै शस्त्र चलाओ।
एक साथ मिलि मोहि युद्ध की कला दिखाओ॥
सुर सुनि सब मिलि जीभ पै, अस्त्र शस्त्र मारन लगे।
निगले सबके अस्त्र जब, है निशस्त्र डरि सुर भगे॥

पराजित देवों की भगवत् स्तुति

[३६४]

तमेव देवं वयमात्मदैवतम्,
परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम् ।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यम्,
स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

भागत देखे देव असुर जय पाइ सिहाये ।
नहीं शरण लखि अन्य विष्णु ढिँग सुर सब धाये ॥
हाथ जोरि सब बिनय करें हरि हमें बचाओ ।
बहुत अवज्ञा सही जगतपति अब अपनाओ ॥
गुरु अपमान स्वरूप महँ, वृत्र विपति सिर पर परी ।
गो द्विज देवनि की तुमनि, युग युग महँ रच्छा करी ॥

जीव तभी दुख पाता है, जब अहङ्कार वश अपने स्वामी को भूल जाता है। जहाँ भगवान् को स्मरण किया तहाँ उसकी

---

* पराजित हुए देवतागण भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"जो प्रभु सबके आत्मा हैं परम देव हैं, प्रधान और प्रकृति तथा विश्वरूप हैं और इन सब से अन्य भी हैं। उन्हीं शरणागत वत्सल श्रीहरि की हम सब शरण में हैं। वे ही महात्मा हम सब अपने आश्रितों का अवश्य ही कल्याण करें।"

आधि व्याधि सभी नष्ट हो जाती है, वह स्वस्थ होकर तान दुपट्टा सोता है। तब काल भी उससे डर जाता है, मृत्यु भी उसके निकट फटकने नहीं पाती। भगवान् जीवों के दोषों की ओर ध्यान नहीं देते, वे तो शरण में आये हुये सभी जीवों की रक्षा करते हैं, यदि भगवान् जीवों के अपराधों की ही ओर ध्यान दें, तब तो इसकी निष्कृति का कोई उपाय ही नहीं। कभी यह संसार चक्र से बाहर ही नहीं हो सकता। इसलिये भगवान् को कारण रहित कृपालु, शरणागत वत्सल, अशरणशरण, दयालु, क्षमावान् और भक्त भयहारी आदि आदि नामों से पुकारते हैं। देवताओं का देवत्व इसी में है, कि वे कभी-कभी ऐश्वर्य के मद में भगवान् को भूल तो अवश्य जाते हैं, किन्तु विपत्ति पड़ते ही, अन्य किसी का आश्रय ग्रहण न करके भगवान् की ही शरण जाते हैं। भगवान् की तो प्रतिज्ञा ही है, कि जो एक बार हृदय से प्रसन्न होकर कह दे कि 'मैं तुम्हारा हूँ' तो उसे सर्व भूतों से अभय दान दे देते हैं, फिर कोई कितना भी बली से बली पुरुष क्यों न हो, भगवान् शरणापन्न पुरुष का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर से पराजित होकर देवतागण सर्वान्तर्यामी प्रभु की शरण में गये। पश्चिम समुद्र के तट पर देवता खड़े होकर भगवान् की आर्त स्वर से स्तुति करने लगे। उन्हें भगवान् का कोई रूप तो दिखाई देता ही नहीं था, वैसे ही अन्तःकरण में स्थित सर्वव्यापक आदि पुरुष श्रीमन्नारायण की एकाग्रचित्त से उपासना करने लगे।"

सर्व प्रथम अत्यन्त विनीत भाव से इन्द्र ने गद्गद कण्ठ से स्तुति की—"हे प्रभो! आप पाँचों भूत, तीनों लोक और ब्रह्मादिक देवों के भी परम पूजनीय हैं। समस्त जीव विवश होकर आपको पूजोपहार समर्पण करते हैं। आप भय को भी भय देते

वाले हैं, काल भी आपके सम्मुख काँपता रहता है, ऐसे सर्व-समर्पण, सर्वेश्वर, आप हम असहाय, दीन हीनों की रक्षा करें, हमारे दुखों को दूर करें, हमें विपत्ति के सागर से बचावें।"

जब इन्द्र स्तुति कर चुके तब उत्तर दिशा के लोकपाल कुबेर जी बोले—"हे परमात्मन्! यह संसार वास्तव में अपार सागर है। जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा इसे पार नहीं कर सकता। आपके पादपद्मरूप नौका का आश्रय लेकर जो पार जाने का प्रयत्न करता है, वह तो सुखपूर्वक पार हो जाता है, किन्तु जो मन्दमति आपके जल में कभी भी न डूबने वाले सर्व समर्थ अरुण चरणकमलों का आश्रय न लेकर किसी अन्य उपाय से इस दुस्तर जलनिधि को पार करना चाहता है, उसका प्रयत्न ऐसा ही है जैसे कोई कुत्ते की पूँछ पकड़कर सातों समुद्रों के पार जाना चाहता हो। इस भीषण अगाध दुस्तर संसार सागर में प्राणियों के एकमात्र रक्षक, उन्हें सभी प्रकार की विपत्तियों से बचाने वाले सर्वसमर्थ आप ही हैं। आप राग द्वेष से शून्य, प्रशान्त, उपाधिकृत भेदों से रहित, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त, पूर्ण काम, अहङ्कार शून्य तथा आत्म लाभ से सर्वदा संतुष्ट रहने वाले सर्वान्तर्यामी हैं। अतः हम सब देवता आपकी शरण में हैं।"

धनद कुबेर के स्तुति करने के अनन्तर पश्चिम दिशा के अधीश जलों के स्वामी वरुणजी हाथ जोड़कर गद्गद कंठ से प्रभु की स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—"प्रभो! देखिये, राजर्षि सत्यव्रत समुद्र के तट पर आपका आश्रय ग्रहण करके निश्चिन्त बैठे थे। उन पर घोर विपत्ति आने वाली थी। तीनों लोकों के नाश का समय आ गया था। प्रलयकालीन समुद्र उमड़ने वाला था, उस समय आपने मछली का रूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया। आपके विशाल शृङ्ग में पृथ्वी रूप नौका को बाँधकर वे

राजर्षि मनु अनायास ही इस दुस्तर विपत्ति सागर के पार हो गये। सो हे मत्स्य रूप जनार्दन! हम भी वृत्र के दुरन्त भय से त्रस्त हैं, इस असुर रूप अगाध दुःख सागर से हमारी आप अवश्य-अवश्य रक्षा करें। हमें अपने चरणों की छाया में रखकर अभय प्रदान करें।"

इस प्रकार जब वरुणजी स्तुति कर चुके तब दक्षिण दिशा के स्वामी यमराज भी अपने पाशों को फेंककर, दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर गद्गद कण्ठ से सावधानी के साथ स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—"प्रभो! जिन पर आपकी कृपा है, वे अकेले होने पर भी किसी से पराजित नहीं होते। देखिये, सृष्टि के आदि में जब तक लोकों की भी कल्पना नहीं थी, इस दृश्य जगत् का नाश भी नहीं होता था, दूसरा कोई जीव दृष्टि-गोचर नहीं होता था। उस समय प्रचण्ड पवन के थपेड़े से उठी हुई उत्ताल तरङ्गों की गर्जना के कारण, अत्यन्त भयानक प्रलय कालीन जल में भगवान् की नाभि कमल से उत्पन्न हुए ब्रह्माजी अकेले ही आश्चर्य के सहित आँखें फाड़-फाड़कर चारों दिशाओं को देख रहे थे। उसी समय मधुकैटभ दैत्यों ने उत्पन्न होकर उन्हें डराया धमकाया। आप उस समय शेष शैया पर सुख से शयन कर रहे थे। अपने आश्रित ब्रह्माजी को भयभीत देखकर आपने योगनिद्रा का परित्याग किया। युद्ध करके उन दैत्यों को मारकर ब्रह्माजी के सङ्कट को दूर किया। हे शरणागत वत्सल! हे भक्त भयभञ्जनकारी! प्रभो! हम सब भी वृत्रासुर के कारण अत्यन्त ही भयभीत हो गये हैं। हम सब निराव-लम्बन की भाँति विपत्ति सागर में डूबते उतराते हुए आपके चरणों के समीप पहुँच गये हैं। अब तो हमारी रक्षा करो। हमें इस विपत्ति सागर से पार पहुँचा दो। वृत्र के भय से हमें निर्भय बना दो।"

जब चारों लोकपाल स्तुति कर चुके तब मनु आदि प्रजापतियों ने दीनता के साथ उन सर्वसमर्थ प्रभु की स्तुति आरम्भ की, प्रजापतियों ने कहा—"हे जगत्पति! हे विश्वम्भर! आप चराचर विश्व के कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता हैं। आप ही इस जगत् के एकमात्र आश्रय हैं। आपने ही अपनी माया से हमारी रचना की है। आपकी ही प्रेरणा से आपकी ही कृपा प्रसाद पाकर आपकी अनुग्रह से ही हम संसार की रचना करते हैं और आपकी दुर्ज्ञेय माया के चक्कर में पड़ जाने के कारण हम आपको भुलाकर अपने को ही स्वतन्त्र ईश्वर मान बैठते हैं। इसी अभिमान के कारण हम आपके यथार्थ रूप से अनभिज्ञ बने रहते हैं। आप सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर सभी प्रेरणाओं को स्वयं करते हैं। आप सर्वसमर्थ के स्वरूप को भली भाँति न जानकर भी हम आपकी शरण में आये हैं हमें विपत्ति से बचाइये। देवताओं की रक्षा करके तीनों लोकों को सुखी कीजिये। आसुरी भावों का नाश करके सतोगुण की वृद्धि कीजिये। अपने आश्रित सुरों को अभय प्रदान कीजिये।"

प्रजापतियों की स्तुति के अनन्तर मरुद्गण भगवान् की स्तुति करने लगे। जिन्होंने विनीत भाव से कहा—"हे धर्मावतार! हे ब्रह्मण्य देव! आपके लिये न कोई स्वपक्ष है न पर पक्ष, आपका न कोई शत्रु है न मित्र। आप तो पक्षपात से रहित, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी और सर्वेश्वर हैं। आप निर्विकार होते हुए भी जब हम देवताओं को दुखी देखते हैं, तब देव, द्विज तथा गौओं की रक्षा के निमित्त भाँति भाँति के अवतार लेकर इन्हें विपत्तियों से बचाते हैं। कभी आप देवताओं में उपेन्द्र आदि रूप धारण कर लेते हैं, कभी ऋषियों में कपिल, परशुराम आदि रूप रखकर संसार को विपत्तियों

से बचाते हैं। कभी कच्छ, मच्छ, बाराह, नृसिंह आदि पशुओं का रूप रखकर अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। कभी राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि आदि मनुष्यों का सा रूप रखकर भाँति-भाँति की अद्भुत क्रीड़ायें किया करते हैं। यद्यपि आपको कर्तव्य नहीं, फिर भी साधुओं का परित्राण करने के निमित्त तथा दुष्टों का विनाश करने के निमित्त धर्म संस्थापनार्थ युग-युग में उत्पन्न होकर देवताओं को निर्भय करते हैं। आज हम असुर वृत्र के भय से भयभीत हो गये हैं। हम अनाश्रितों को अपने चरणों का आश्रय देकर निर्भय बनाइये, हमारी रक्षा कीजिये।"

इसके अनन्तर अग्निदेव ने कहा—"हे प्रभो! आप सब के आत्मा और परम देव हैं। देवताओं के एकमात्र आश्रय आप ही हैं। आप इस विश्व से सर्वथा पृथक् होने पर भी प्रकृति और पुरुष रूप से इस विश्व के आदि कारण हैं। यह सम्पूर्ण विश्व आपको लीला विलास है, आप इस प्रपञ्च से परे होने पर भी विश्व में सर्वत्र समान रूप से ओत-प्रोत हैं। ऐसे आप शरणागतवत्सल श्रीहरि की हम शरण हैं। हे अशरण शरण! आप हम भक्तों की रक्षा करें, हमारा कल्याण करें, हमें भय से छुड़ावें, हमें दास जानकर अपनावें। हमें अपने अचिन्त्य रूप के दर्शन करावें।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार सभी देवों ने उन परम देव अचिन्त्य ऐश्वर्यशाली आत्मस्वरूप श्रीहरि की विविध स्तोत्रों द्वारा भाँति-भाँति से स्तुति की। उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी, बनमाली, श्रीहरि तुरन्त वहाँ प्रकट हो गये। उस समय भगवान् का मुखारबिन्द शरद्कालीन चन्द्र के समान खिला हुआ था। उस पर मन्द मन्द मुस्कान छिटक रही थी। टटके खिले हुए शारदीय

कमलों के समान उनके नेत्र युगल प्रफुल्लित हो रहे थे। नन्द सुनन्दादि सोलह पार्षद उन्हें घेरे खड़े थे। प्रभु के सभी पार्षद भी चतुर्भुजी थे। उनके भी चारों श्रीहस्तों में शंख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित थे। वे सब भी घुटनों तक लटकने वाली वन मालायें पहिने हुए थे। सभी के श्री अंगों में पीताम्बर फहरा रहा था, सभी मणिमय कीट पहिने तथा कानों में कमनीय कुण्डलों को धारण किये भगवान के चारों ओर खड़े थे। उनके वस्त्राभूषण आयुध आदि सब तो श्रीहरि के समान ही थे, इतना अन्तर था, कि भगवान् के श्रीअंगों में श्री वत्स लाञ्छन और कौस्तुभमणि शोभा दे रही थी और वे सब इन दोनों से रहित थे।

देवतागण भगवान् के ऐसे अनवद्य सौन्दर्ययुक्त परम शोभामय अत्यन्त मनोहर रूप का दर्शन करके, उनके दर्शनानन्द के कारण प्रेम में विभोर हुए, अत्यन्त विह्वलता के सहित पृथ्वी में दण्ड के समान लोटकर भक्तिभाव से साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे। बड़ी देर तक वे प्रेम में पगले आत्म विस्मृत बने हुए पड़े रहे।

कुछ काल के अनन्तर अपने को सम्हालकर उठकर खड़े हो गये और अत्यन्त विनीत वचनों से गरुड़ के ऊपर चढ़े अपने सम्मुख खड़े उन अच्युत अखिलेश की स्तुति करने लगे। देवताओं ने देखा पद्य में हृद्गति सम्पूर्ण भाव व्यक्त नहीं हो सकते, अतः वे गद्य में ही स्तुति करने लगे। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—'हे भगवन्! हे परमपुरुष! हे महानुभाव! हे परम मङ्गल मय! हे परम कल्याण रूप! हे परम कारुणिक! हे एकमात्र जगदाधार! हे लोकेकनाथ! हे सर्वेश्वर! हे लक्ष्मीपते! आपके पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है। हम आपकी शरण में आये हैं।"

श्रीसूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो ! आर्त और अर्थार्थी देवताओं ने अपने कार्य की सिद्धि के लिये भगवान् की बड़ी लम्बी चौड़ी स्तुति की। उसको मैं समयानुसार स्तुति प्रकरण में कहूँगा। सम्पूर्ण स्तुति कर लेने के अनन्तर उन्होंने अपना यथार्थ अभिप्राय प्रकट किया। अन्त में देवताओं ने कहा—"हे सर्वेश्वर ! हे श्रीकृष्ण ! जिस वृत्रासुर ने हमारे अस्त्रों को ही नहीं निगल लिया है अपितु हमारे तेज का अपहरण करके हमें तेजोहीन भी बना दिया है, उस त्रिलोकी का नाश करने वाले उस दुष्ट का संहार करें। हे शुद्ध स्वरूप ! हे हृदयाकाश विहारी ! हे सर्व जीवों के साक्षी रूप ! विमल कीर्ति वाले विश्वनाथ ! हे साधुजन सेवित ! हे सच्चिदानन्दस्वरूप स्वामिन् ! संसार रूप बीहड़ वन में भटकते इस जीव रूप पथिक को शरण में आ जाने पर उत्तमगति देने वाले ! हे शरणागतवत्सल ! हमारी इस असुर से रक्षा कीजिये। आपके पुनीत पादपद्मों में हमारा पुनः पुनः प्रणाम है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! देवताओं की स्तुति से भगवान् प्रसन्न हुए और उन्हें निर्भय करते हुए वरदान और उपदेश देने को उद्यत हुए।"

छप्पय

विपति उदधि महँ मग्न भए हरि आइ उबारो।
अन्य शरण नहिँ नाथ गहो अब हाथ हमारो॥
सुनि देवन की विनय तुरत तहँ प्रकटे श्रीहरि।
अति प्रसन्न सब भये देव दुर्लभ दर्शन करि॥
देखि दुखी देवन दया, करी विष्णु बोले बचन।
शुभ सम्मति सबकूँ दऊँ, ताहि सुनो एकाग्रमन॥

वृत्र से डरे सुरों को श्रीहरि की सम्मति

[३६५]

मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम् ।
विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत माचिरम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ५१ श्लो०)

छप्पय

मुनि दधीचि के निकट देव सब मिलिके जाओ ।
निज विपत्ति के वृत्त जाइ मुनिवरहिँ सुनाओ ॥
विद्या व्रत तें पूत तपस्या के प्रभाव तें ।
उनकी हड्डी विमल सरल सच्चे स्वभाव तें ॥
बने वज्र मुनि अस्थि तें, वृत्रासुर मरि जाइगो ।
सबरो दुख कटि जायगो, गयो राज्य फिरि आइगो ॥

प्रायः लोग कहा करते हैं, भगवान सर्व समर्थ थे, तो रावण, बालि, कंस आदि को मारने को इतना प्रपंच क्यों रचा । झट से मार देते । लोगों को कितना कष्ट होता है सीता जी वर्ष भर राक्षस के घर रहीं । बसुदेव देवकी को वर्षों कारागार की यातनायें सहनी पड़ीं । कृष्ण भक्त पांडव विपत्तियों को झेलते

---

* देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर प्रकट हुए श्रीहरि इन्द्र से कहने लगे—"मघवन् ! तुम शीघ्र ही ऋषियों में श्रेष्ठ दधीचि मुनि के समीप जाओ । वहाँ जाकर उनसे विद्या, व्रत और तप के प्रभाव से अत्यन्त दृढ़ हुए उनके शरीर को माँगलो । जाओ तुम्हारा कल्याण हो ।"

हुए वन-वन भटकते रहे। सर्व समर्थ भगवान् के लिये ये बातें अनुरूप नहीं। दुष्टों को उत्पन्न ही न होनें दें। यदि उत्पन्न हो ही जायँ, तो पैदा होते समय ही उन्हें मार डालें जिससे साधु पुरुषों को कष्ट न दे सकें। इतनी सामर्थ्य होने पर भी जो भगवान् दुष्टों की इतनी उपेक्षा कर देते हैं, उन्हें इतना बढ़ा चढ़ा देते हैं इससे हमें उनके सर्वशक्तिमान होने में सन्देह होता है। रावण हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष ये लोग सौ हजार वर्षों तक नहीं यु गों तक जीवित रहे। भगवान् ने क्यों उन्हें पैदा होते मार नहीं डाला ? क्यों उनकी उपेक्षा की ?

इसका बड़ा सरल-सा उत्तर है। कोई धनी है, बैठा ठाला है, अटूट सम्पति है, काम धंधा कुछ है नहीं, स्वभाव का विनोदी है। अपनी धर्मपत्नी के साथ शतरंज ही खेलता रहता है। पत्नी किसी दूसरे की नहीं उसी की अर्धाङ्गिनी है। शतरंज की गोट, उसके नीचे का वस्त्र सब उसी ने मँगाया है। उसमें जो हाथी, घोड़ा, ऊँट, मंत्री, सिपाही भिन्न-भिन्न रङ्गों से रँगी लकड़ी के होते हैं वे भी अपने ही हैं; किन्तु जब खेलने बैठता है, तो एक-एक गोट के लिए अपनी बहू से कैसा गम्भीर होकर लड़ता है। यह दाव मेरा है, देखो मैं इसे तुम्हें कदापि न लेने दूँगा, तुम रूँगट मत करो। मेरे घोड़े को मत लो। कैसी गम्भीरता से लड़ता है, एक-एक गोट के लिये प्राण दे देता है। स्त्री भी भौं चढ़ाकर गम्भीर होकर कोप करती है और कहती है—"मेरी गोट को लेने वाले तुम होते कौन हो ?" वह सब सहता है, यहाँ तक कि गुत्थम गुत्था भी हो जाय तो उसके लिए भी उद्यत रहता है, क्योंकि वह खेल है क्रीड़ा है, मनोविनोद है। जहाँ खेल समाप्त हुआ सब गोटों को उठाकर रख देते हैं। दूसरे दिन फिर वस्त्र बिछाकर वैसा ही खेल होता है। वे ही गोटें, वे ही चालें, वे ही खेलने वाले, किन्तु नित्य नूतनता

दिखाई देती है। नित्य जय-पराजय के लिए व्यग्रता बनी रहती है। नित्य ही भाँति-भाँति की चालें चली जाती हैं। इसी तरह यह विश्व प्रपंच उन नटनागर की क्रीड़ा है, देवता मनुष्य, तिर्यक् आदि उनकी गोटें हैं। अपनी दैवी माया का आश्रय लेकर खेल खेल रहें हैं। उनकी न कभी जय है, न पराजय वे तो इन दोनों से परे शुद्ध, बुद्ध मुक्त तथा नित्य नई-नई क्रीड़ायें किया करते हैं और भक्तों के महत्व को प्रकट कराके उनकी कीर्ति को दशों दिशाओं में फैलाया करते हैं यह उनका स्वभाव है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं ने बड़े करुण स्वर से एकाग्रचित्त होकर भगवान् की स्तुति की तो अपने सुमधुर स्तोत्रों को सुनकर स्तुति प्रिय श्रीहरि परम प्रसन्न हुये और देवताओं को अभयदान देते हुये बोले—"अरे, देवताओ! तुम लोग उदास कैसे हो रहे हो? क्यों तुम लोग मेरी स्तुति कर रहे हो? तुमने तो बड़ी अद्भुत ज्ञानमय मेरी स्तुति की। ऐसे ज्ञान के द्वारा तो मनुष्यों को आत्मा के प्रभाव की स्मृति और मेरी भक्ति प्राप्त होती है। जिसे प्राप्त करके मनुष्यों की सभी कामनायें नष्ट हो जाती हैं।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! हम लोग तो आर्त भक्त हैं, निष्काम भक्त नहीं। हम तो स्वार्थ से भक्ति कर रहे हैं।"

भगवान् ने कहा—"हे विबुधगण! अरे अपनी स्तुति द्वारा जब तुमने मुझे प्रसन्न ही कर लिया, तो फिर तुम लोगों के लिये संसार में कोई भी दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु अप्राप्त नहीं है, फिर भी मेरा अन्यान्य ऐकान्तिक तत्ववेत्ता भक्त मुझसे मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! हम देखते हैं, कभी-कभी आपके भक्त जिस वस्तु को चाहते हैं आप उन्हें उस वस्तु को

नहीं देते। नारदजी एक राजकुमारी के रूप पर आसक्त होकर उसे चाहते थे। उसके लिये व्यग्र बने हुए थे। जैसे हो वैसे वह प्यारी-प्यारी राजकुमारी मिल जाय। यही उन्हें एकमात्र धुनि था। वे आपके अनन्य भक्त हैं। आपके अतिरिक्त उनकी कोई गति नहीं, कोई अवलम्ब नहीं, आश्रय नहीं। आपसे उन्होंने सुन्दर रूप माँगा। सो, सुन्दर रूप देना तो पृथक् रहा आपने बन्दर का मुँह बना दिया। उनकी बानराकृति को देखकर वह दुलहिन राजकुमारी बिदुक गई और उसने नारदजी की ओर देखा तक नहीं। आपने अपने अनन्य भक्त नारदजी की इतनी छोटी-सी इच्छा भी पूर्ण नहीं की ?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"देवताओ! देखो जो अपरिपक्व बुद्धि से पुरुष विषयों को ही सार समझकर उनकी याचना करते हैं, उन्हें अपने वास्तविक कल्याण का बोध नहीं होता। ऐसे पुरुषों को विषयों को दे देना तो बन्दर के हाथ में छुरी के समान है, जो चंचलता के कारण अपनी नाक काट सकता है। बालक को सर्प के समीप बिठाने के समान है, जो उसे चमकीला समझ कर खेल में पकड़ ले और अपने प्राणों को गँवा सकता है। ऐसे विषय लोलुप दासों को स्वामी भी उनके अभीष्ट वैषायिक पदार्थ देते हैं, वे उससे भी अधिक मूर्ख हैं। देखिये! जो धूम्र-पान के दोषों को जानता है वह अपने पुत्रों को धूम्र-पान करने को क्यों देगा? जो मुक्ति मार्ग को समझता है, वह अपने आश्रितों को प्रवृति मार्ग का उपदेश क्यों देने लगा। एक रोगी है। उसकी चिकित्सा कोई कृपालु वैद्य बड़ी तत्परता से करते हैं। उसे खाँसी बहुत है, वह बार-बार वैद्य से खट्टा-मट्ठा माँगे तो क्या वैद्य उसे दे सकता है? किसी भी कुपथ्य की वस्तु पर वह मन चलावे तो क्या योग्य हितैषी वैद्य उसके सेवन की उसे सम्मति दे सकता है?

इसी प्रकार मैं अपने कृपापात्र भक्तों को माँगने पर भी अनित्य, क्षणभंगुर नाशवान् दुःख परिणामी विषय सुखों को नहीं देता।"

देवताओं ने कहा—"प्रभो! यह सब तो सत्य है, किन्तु इस समय हम सब तो बड़ी विपत्ति में पड़े हुए हैं। वृत्रासुर ने हम सबको तो घर-बार से हीन दुखी और निराश्रय बना दिया है। हे सर्वेश्वर! जब तक वह जीता रहेगा, तब तक हम इसी प्रकार दुखी होकर भटकते रहेंगे। यह दुष्ट दैत्य जिस उपाय से मर सके, उस उपाय को बताइये, हमें इस विपत्ति से छुड़ाइये। आप ही कृपा करके इस दुष्ट को मार कर हमारे क्लेशों का अन्त कर दें, आपके अतिरिक्त कोई उस इतने डील डौल वाले दैत्य को मारने में समर्थ नहीं।"

यह सुनकर भगवान् गम्भीर होकर बोले—"भैया! वृत्रासुर बड़ा तेजस्वी तपस्वी धर्मात्मा और मेरा भक्त है। वह मेरे द्वारा नहीं मारा जा सकता। मैं प्रत्यक्ष तो उसे मारूँगा नहीं। हाँ तुम्हें उसके मारने का उपाय बता दूँगा।"

देवराज इन्द्र ने उत्सुकतापूर्वक कहा—"अच्छा भगवन्! उपाय ही बता दीजिये। आप सीधे से तो मारेंगे नहीं। हमें और अधिक इधर-उधर भटकाकर उसका अन्त करना चाहते हैं। अच्छी बात है आज्ञा कीजिये हम क्या करें?"

भगवान् ने कहा—"देखो, तुम सब लोग मिलकर महर्षि दधीचि मुनि के समीप जाओ। उन्होंने चिरकाल तक घोर तप किया है, भाँति-भाँति के नियम और व्रतों का पालन किया है, वे ब्रह्मविद्या के ज्ञाता हैं। उनकी एक-एक हड्डी परम पावन बन गई है। तुम लोग जाकर उनसे उनका शरीर माँग लो। उनकी पवित्र अस्थियों से वज्र बनाओ। उस वज्र से तो वृत्र मर सकता है। इसके अतिरिक्त उसके मरने का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है।"

यह सुनकर उदास मन से देवता कहने लगे--"भगवन्! यदि वृत्र को मारना आपको अभीष्ट नहीं, तो स्पष्ट मना कर दें। ऐसे घुमा फिरा कर बातें क्यों कर रहे हैं। "न नौ मन काजर होगा, न राधा नाचेगी। न दधीचि मुनि अपनी हड्डी देंगे, न वज्र बनेगा और न वृत्रासुर मारा जायगा। भगवन्! अपने आप स्वेच्छा से अपने जीवित शरीर की हड्डी कौन दे सकता है। हड्डी की बात तो पृथक् रही, यह तो आत्मा के अधिष्ठान शरीर को टिकाये रखने की मुख्य वस्तु है। अजी, कोई शरीर से सम्बन्ध रखने वाले धन में से उसका छोटे से छोटा भाग माँगे तो भी मनुष्य देने में आना कानी करेगा। फिर हड्डी देना तो दूर की बात है।"

यह सुनकर भगवान् हँसते हुए बोले--"अरे, देवताओ! तुम सबको अपने समान ही स्वार्थी समझते हो? अरे, परोपकार के लिये तो पुरुष सर्वस्व निछावर कर देते हैं। राजा शिव ने एक कपोत की रक्षा के लिये अपने शरीर का मांस काट-काट कर दे दिया था। दैत्यराज बलि ने मुझे पहिचान कर शुक्राचार्य के मना करने पर भी अपना सर्वस्व दान कर दिया था। परोपकारी पुरुषों के लिये कोई वस्तु अदेय नहीं, उनके लिये कुछ भी कठिन नहीं। तुम अपने मन में शंका मत करो, उन मुनिवर की शरण में जाओ। वे तुम्हारे मनोरथ को अवश्य ही पूर्ण करेंगे। देखो, उन्होंने अपना शिर कटाकर भी अश्विनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा--"महाभाग, सूतजी! दधीचि मुनि ने अपना सिर क्यों कटाया? उन्होंने अश्विनी कुमारों को बिना सिर के उपदेश कैसे किया, फिर उनका कटा हुआ सिर कैसे जुड़ गया। यदि यह बात हमारे सुनाने योग्य हो, तो कृपा करके इसे हमें अवश्य सुनावें। परोपकारी पुरुषों के

चरित्र सुनने से पुण्य की वृद्धि होती है, हृदय में सद्गुणों का विकास होता है और जीवन में नूतन स्फूर्ति का संचार होता है।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न करने पर सूतजी बोले—"महाभाग! जिस प्रकार अपना सिर कटाकर महामहिम महर्षिवर्य श्री दधीचि ने अश्विनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया उस परम पवित्र पुण्यप्रद उपाख्यान को मैं आप सबको सुनाता हूँ, उसे आप अत्यग्र भाव से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

हरि की सुनिकें बात देव ह्वैकें विस्मय युत।
चिन्ता भय तें विकल भये निरखें सब इत उत ॥
कहें—"प्रभो! हम दुखित असंभव कहो न बानी।
देहि न जीवित अस्थि होहि चाहे नर ज्ञानी ॥
को जगमहँ अस करि सके, प्रान दान दुष्कर करम।
दमरी देनों दयानिधि! दुखदायी होवे परम ॥

शिर कटाकर भी दधीचि मुनि का विद्यादान देना

(३९६)

स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम् ।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ९ अ० ५२ श्लो०)

छप्पय

हरि हँसि बोले देव ! सबनि अपु सम मति जानों ।
पर उपकारी पुरुष देहिँ सरबसु सचु मानों ॥
शिवि बलि अरु हरिचन्द कर्म दुष्कर जग कीन्हों ।
पर कारज के हेतु मोह तन को तजि दीन्हों ॥
सिर कटाइ उपदेश शुभ, ज्ञान अश्वशिर कूँ कर्यो ।
का अदेय जिनकूँ सदा, हृदय ज्ञान घनतें भर्यो ॥

जिस विषय का जिन्हें सच्चा व्यसन हो जाता है उस विषय के लिये वे प्राणों की भी बाजी लगा देते हैं। धन लोलुप पुरुष धन के लिये, कामुक पुरुष मनोच्छिता कामिनी के लिये, माना-

---

* भगवान् देवताओं को सम्मति देते हुए कह रहे हैं—''देवताओ ! देखो उन दधीचि मुनि को अश्वशिरा नामक विशुद्ध ब्रह्मविद्या का ज्ञान है। उस विद्या को उन्होने अश्विनीकुमारों को पढ़ाया था। जिसके प्रभाव से उन दोनों अश्विनीकुमारों को अमरता प्राप्त हो गई है।''

भिलाषी माने के लिये, अपने सिर को हथेली पर रखकर उसके लिये प्रबल प्रयत्न करते हैं। नाना भाँति के दुःखों को सहन करते हैं, इससे इन्हें कष्ट नहीं होता उलटे उस प्रयत्न में उन्हें एक मानसिक सन्तोष-सा होता है। इसी प्रकार परोपकारी पुरुषों को पर पीड़ा के निवारण में एक प्रकार की आन्तरिक शान्ति होती है। परोपकार किये बिना रह नहीं सकते। दूसरों के दुःखों को देखकर चुप बैठे रहना उनके लिये असंभव हो जाता है। अपनी किसी चेष्टा से दूसरों का भला हो जाय इसके लिये वे कुछ उठा नहीं रखते। अपने शरीर को देकर भी दूसरों की भलाई हो तो वे शरीर का तनिक भी मोह नहीं करते, हँसते-हँसते सिर कटाने के लिये तैयार हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दध्यङ् अथर्वा मुनि के पुत्र भगवान् दधीचि परोपकारियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे, वे परम तपस्वी महान व्रतधारी परमपरोपकारी ब्रह्मज्ञानी महापुरुष थे। उस समय उनके समान ब्रह्मविद्या को जानने वाले मुनि बहुत ही थोड़े थे। जितने ही वे ब्रह्मविद्या में विशारद थे उतने ही कर्मकाण्ड में भी निष्णात थे। प्रवर्ग्य नामक एक यज्ञ कर्म विशेष के तो वे सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता समझे जाते थे।

एक बार दोनों भाई अश्विनीकुमार इनके परम पावन ब्राह्मी श्री से सम्पन्न आश्रम में आये। उस फल फूलों के भार से नमित बड़े-बड़े वृक्षों वाले पवित्र आश्रम में तेजस्वी मुनि तीनों हवनीय अग्नियों के सहित चतुर्थ अग्नि के समान तेज से जाज्वल्यमान दिखाई देते थे। अश्विनीकुमारों ने उन महा तेजस्वी मुनि की श्रद्धा सहित चरण वन्दना की, मुनि ने प्रसन्न होकर उनका स्वागत करते हुए कुशल पूछी और कहा—"देवताओं के सम्माननीय वैद्यो! आज तुम लोगों ने पधारकर मेरे

आश्रम को और मुझे कृतार्थ किया, कहो मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ?"

इस पर हाथ जोड़े हुये अश्विनी कुमारों ने कहा—"भगवन् ! हम आज तपोमूर्ति आपका दर्शन करके कृतार्थ हो गये; सेवा तो हमें आपकी करनी चाहिये, किन्तु हम सेवा कर ही क्या सकते हैं। हम रोगों को अच्छा कर सकते हैं, चूर्ण बाटिका, अवलेह, क्वाथ, रस पर्पटी आदि सुन्दर से सुन्दर दे सकते हैं। सो, आपको उनकी अपेक्षा नहीं। तपस्या और तेज के प्रभाव से रोग आपके पास फटक नहीं सकते, अतः हम स्वयं भी आपकी कुछ सेवा नहीं कर सकते। फिर भी आपने हमसे कुछ वरदान माँगने को कहा है तो हम आपसे यही याचना करते हैं कि हमें आप ब्रह्मविद्या का उपदेश दें।"

मुनि तो प्रसन्न ही थे अतः बड़े स्नेह से बिना कुछ सोचे समझे कहने लगे—"अच्छी बात है इस समय तो मैं एक अनुष्ठान विशेष में संलग्न हूँ, अब तो आप लोग पधारें, कुछ काल के पश्चात् जब आप आवेंगे तब मैं आप दोनों को ब्रह्मविद्या का उपदेश अवश्य दूँगा।" यह सुनकर दोनों भाई अश्विनी कुमार प्रसन्नता के सहित लौट गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऐश्वर्यशाली पुरुष जब किसी अपने आश्रित व्यक्ति को अपने से बढ़ता हुआ देखते हैं तो उनके मन में एक प्रकार का डाह होता है। इन्द्र ने जब यह बात सुनी कि महामुनि दधीचि अश्विनीकुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करेंगे, तब तो उनके मन में बड़ा अमर्ष उत्पन्न हुआ, वे तुरंत तपोधन दधीचि के समीप पहुँचे। अपने आश्रम में देवेन्द्र को देखकर मुनिवर बड़े प्रसन्न हुए। उनकी विधिवत् पूजा की, कुशल पूछी। तदनन्तर इन्द्र ने कहा—"भगवन् ! हमने सुना है, आप अश्विनीकुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाले हैं।"

सरलता के साथ मुनि ने कहा—"हाँ, भैया ! वे दोनों आये तो थे मेरे पास, किन्तु उस समय मैं एक विशेष अनुष्ठान में संलग्न था, अतः मैंने उनसे फिर आने के लिये कह दिया है।"

इन्द्र ने गम्भीर होकर कहा—"भगवन् ! आप उन्हें ब्रह्म-विद्या का उपदेश न करें।"

आश्चर्य के साथ मुनि ने कहा—"क्यों बात क्या है ?"

देवेन्द्र ने कहा—"बात यही है महाराज ! कि वे लोग वैद्य हैं, वैद्य विद्या बड़ी अधम है। वैद्य का दर्शन अशुभ माना जाता है, वैद्य का अन्न पापमय होता है। वैद्य को श्राद्ध आदि में बुलाना अत्यन्त निषेध है। जो वैद्य हैं वह ब्रह्मविद्या के अधिकारी ही नहीं।"

इस पर मुनि ने कहा—"देवराज ! आपने भी तो आयुर्वेद शास्त्र का चिरकाल तक अध्ययन किया है, दूसरों को भी आपने पढ़ाया है फिर आप आयुर्वेद शास्त्र की इतनी निन्दा क्यों करते हैं ?"

इस पर शीघ्रता के साथ इन्द्र ने कहा—"भगवन् ! मैं आयुर्वेद शास्त्र की निन्दा नहीं करता। अवश्य मैंने आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन किया है। मुझे इस विद्या का लोग आचार्य भी मानते हैं। मैंने मुनियों द्वारा इसका प्रचार भी कराया है, पढ़ने पढ़ाने में दोष नहीं है। दोष तो है इसके द्वारा आजीविका करने में। इन अश्विनी कुमारों की तो यही आजीविका है। ये चिकित्सा से ही अपना कार्य चलाते हैं। वैद्य को द्रव्य वही देगा, जो रोगी होगा, जिसके प्राण कंठगत होंगे। रोग सदा पापों से होता है, स्वेच्छा से कोई द्रव्य देना नहीं चाहता। वैद्य को विवश होकर द्रव्य देना पड़ता है। अतः वह पापमय द्रव्य निन्दनीय है। इसीलिये वैद्यों का अन्न पूय शोणित के समान अपवित्र और निन्दनीय बताया है।"

महामुनि दधीचि ने कहा—"भाई, चाहे जो कुछ हो, उन्होंने सच्चे हृदय से आकर मुझसे जिज्ञासा की, मैंने उन्हें वचन दे दिया है। अब तो मैं वचनबद्ध हो चुका, उनके आने पर मैं उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश अवश्य दूँगा।"

इस पर क्रुद्ध होकर इन्द्र बोले—"देखिये ब्रह्मन्! मैं सीधे-सीधे आप से कहता हूँ आप उन्हें भूलकर भी ब्रह्मविद्या का उपदेश न दें, यदि आपने मेरी बात न मानकर मेरा तिरस्कार करके उन्हें ब्रह्मविद्या सिखाई तो मैं आपका सिर काट लूँगा।"

इस पर महामुनि दधीचि हँस पड़े और बोले—"अरे, इन्द्र तुम कोरे ही रहे। सिर काट लोगे तो मेरा क्या बिगाड़ोगे। मैं कोई सिर तो हूँ नहीं, जो कटने पर बेकार हो जाऊँगा। तुम लाख सिर काटो मेरा इसमें क्या बनता बिगड़ता है?"

इन्द्र की बुद्धि में यह बात नहीं बैठी। उन्होंने मुनि को धमकी देते हुए कहा—"देखिए, महाराज! मैं सत्य कहता हूँ, यदि आपने मेरी बात न मानी; तो मैं बिना सोचे आपका सिर काट लूँगा।" इतना कहकर इन्द्र रोष में भरकर वहाँ से चले गये।

कालान्तर में दोनों भाई अश्विनीकुमार मुनिवर दधीचि की सेवा में पुनः उपस्थित हुए और प्रणाम करके बोले—"प्रभो! आपने हमें वचन दिया था, कि हम तुम्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करेंगे, आशा है, आपका अनुष्ठान भी समाप्त हो गया होगा। कृपा करके अब आप हमें पराविद्या का उपदेश देकर अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करें।"

इस पर महामुनि दधीचि ने कहा—"भाई मैंने तुम लोगों से प्रतिज्ञा तो अवश्य की थी, किन्तु तुम्हारे पीछे एक दिन इन्द्र आया था, उसने तुम्हें ब्रह्मविद्या न देने के लिए मुझसे बहुत

आग्रह किया, उसने तो यहाँ तक कह किया, कि यदि आप मेरी बात न मानेंगे, तो मैं आपका सिर काट लूँगा। अब भैया! जैसा तुम उचित समझो।"

इस बात को सुनकर अश्विनीकुमारों ने उदास मन से कहा—"प्रभो! हम तो बड़ी आशा लगाकर आपके चरणों में उपस्थित हुये थे, आपने हमसे प्रतिज्ञा भी की थी, आप हमारी आशा पर पानी न फेरें, हमें निराश न करें, अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर दें। सत्पुरुष जो कह देते हैं, उसे प्राण देकर भी पूरा करते हैं।"

मुनि ने सरलता के साथ कहा—"नहीं, भैया! ऐसी तो कोई बात नहीं। मैंने तुम्हें इन्द्र का समाचार सुनाया। यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो मैं तुम्हें उपदेश दूँगा। इन्द्र यदि शिर काटे तो काट ले। मैं शरीर का परित्याग कर दूँगा। मुझे कुछ शरीर से मोह तो है ही नहीं।"

इस पर शीघ्रता के साथ अश्विनीकुमारों ने कहा—"नहीं भगवन्! हम आपके शरीर का नाश न होने देंगे। इन्द्र तो काटना ही जानता है, हम काटना जोड़ना दोनों ही जानते हैं। शल्यशालाक विद्या में हम अत्यन्त निपुण हैं। हम एक काम करेंगे, घोड़े का सिर काटकर आपके धड़ में लगा देंगे। आप उस अश्व के सिर से हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। इन्द्र आकर उसी सिर को काटेगा, जिससे आपने उपदेश दिया है। जब आपका अश्ववाला सिर कट जाय, तो आपके पूर्व के सिर को हम पुनः धड़ में लगाकर सी देंगे। उसकी औषधियों द्वारा चिकित्सा कर लेंगे। मृत्यु की बात भगवन्! पृथक् है, किन्तु जो ९९ अकाल मृत्यु हैं, उनसे हम प्रत्येक प्राणी को बचा सकते हैं। शस्त्र से सिर काटना अकाल मृत्यु ही है, उसकी चिकित्सा हम भली-भाँति जानते हैं।"

अश्विनीकुमारों की ऐसी बात सुनकर महामुनि दधीचि परम प्रसन्न हुए। उन्होंने विधिवत दोनों भाइयों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। आत्मा परमात्मा का गूढ़ रहस्य समझाया। अश्व के मुख से उपदेश किये जाने के कारण ब्रह्मविद्या का नाम अश्व शिरा भी पड़ गया। वेदों में भी इसका उल्लेख है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सत्यवादी ऋषि ने मिथ्या भाषण के भय से अपना सिर भी कटाना स्वीकार कर लिया। इन्द्र तो हठी ही ठहरे, वे अपनी प्रतिज्ञानुसार उपदेश के अन्त में मुनि का सिर काट कर चले गये। मुनि के दोनों वैद्य शिष्यों ने उनका सिर पुनः मुनि के धड़ में जोड़ दिया, मुनि पुनः ज्यों के त्यों हो गये। वह अश्वशिरा विद्या अभी तक प्रसिद्ध है। मुनियो! आपने जो मुझसे अश्विनीकुमारों को सिर कटाकर कैसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, यह प्रश्न किया था। इसका मैंने संक्षेप से उत्तर दिया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"महाभाग! हमें अब वही पिछली कथा सुनावें। हाँ, तो पराजित देवों को जब श्रीमन्नारायण ने हड्डी माँगने के लिये दधीचि मुनि के समीप जाने को कहा, तो उन्होंने क्या किया?"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो! अब मैं आपको आगे की कथा सुनाता हूँ उसे आप श्रद्धा सहित श्रवण कीजिये।"

छप्पय

विष्णु कहें सुरराज काज ऋषिवर ई साधें।
तनय अथर्वा नित्य नियम तें हरि आराधें॥
नाहीं सुरपति करी विविधि विधि धमकी दीन्हीं।
यमजनि तें जो कही प्रतिज्ञा पूरी कीन्हीं॥
कही ब्रह्मविद्या सकल, हयसिर तें मुनि ऋषभ जो।
अश्वशिरा के नाम तें, है प्रसिद्ध अबतलक जो॥

नामापराधी की प्रबल नाम प्रपत्ति ही गति है

[३६७]

युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति ।
ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः ॥
येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेजउपबृंहितः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ६ अ० ५४ श्लो०)

छप्पय

मिलि सब जाओ करो वन्दना ऋषि चरननि की ।
माँगो है के दीन अस्थि अति पावन मुनि की ॥
अवसि देइँगे कबहुँ मनैं मुनिवर न करिङ्गे ।
तुम सबके हित विहँसि नेह तें देह तजिङ्गे ॥
उनकी तपमय अस्थि तैं, सुघर वज्र बनि जायगो ।
वाई तें जा वृत्तको, सिर धड़ तें कटि जायगो ॥

श्रीमन्नारायण का नाम एक ऐसी अद्भुत रसायन है, कि उसका प्रयोग जहाँ भो किया जाय, जैसे भी किया जाय, वह

* देवताओं से भगवान् विष्णु कह रहे हैं—"देवताओ ! देखो धर्मज्ञ महामुनि दधीचि ऋषि से यदि उनके शिष्य अश्विनी कुमार अथवा तुम लोग यदि उनके अङ्गों को मांगोगे, तो वे अवश्य दे देंगे । उनकी हड्डियों से विश्वकर्मा एक श्रेष्ठ अस्त्र तैयार कर देंगे, उससे इन्द्र मेरे तेज से वृद्धि को प्राप्त होकर वृत्रासुर के सिर को काट डालेंगे ।'

कभी व्यर्थ होती ही नहीं। इन्द्र के वज्र को अमोघ बताया गया है, किन्तु कभी कभी वह भी व्यर्थ हो जाता है, श्रीविष्णु भगवान् को अपराजित बताया गया है, किन्तु कभी-कभी वे भी युद्ध छोड़कर भागते देखे गये हैं। किन्तु भगवन्नाम कभी व्यर्थ नहीं होता। यह दूसरी बात है, कि पात्र भेद से देर सवेर भले ही हो जाय।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान् ने देवताओं से महामुनि दधीचि की अस्थि माँगने का प्रस्ताव किया, तब वे बड़े चिन्तित हुए। उन्हें इस बात की शंका भी हुई कि तपस्वी मुनि की दुबली पतली हड्डियों में इतनी दृढ़ता कहाँ से आ गई, कि सुमेरु के समान लम्बे चौड़े इस वृत्रासुर की झपट को झेल सके। इसी शंका के वशीभूत होकर इन्द्र पूछने लगे—"प्रभो! उन महामुनि दधीचि की अस्थियों में क्या विशेषता है?"

यह सुनकर श्रीभगवान् हँस पड़े और बोले—"अच्छा! पहिले यह बताओ, कि जब तुम्हारे गुरुदेव बृहस्पतिजी तुम्हारा परित्याग करके चले गये और असुरों ने तुम्हें स्वर्ग से निकाल बाहर किया, तो तुमने उन पर फिर से विजय प्राप्त कर ली?"

इन्द्र ने कहा—"महाराज! हमने लोकपितामह ब्रह्माजी की आज्ञा से विश्वरूपजी को अपना गुरु बनाया, उन्होंने हमें नारायण कवच का उपदेश दिया, उस कवच के प्रभाव से ही हमने दुर्मद आततायी असुरों को पराजित करके स्वर्ग से निकाल बाहर किया।"

इस पर भगवान् बोले—"हाँ, यही बात है। तुम नारायण कवच के प्रभाव से ही जय लाभ कर सके थे, किन्तु जिसके द्वारा तुम्हें यह अमोघ अस्त्र प्राप्त हुआ, उसी का तुमने अन्याय से वध कर दिया। यह तुमने नामापराध किया। ब्रह्महत्या का तो प्रायश्चित्त है, तुम चार स्थानों में ब्रह्महत्या को बाँट ही चुके,

आगे भी ब्रह्महत्या हो जायगी, तो उससे भी अश्वमेधादि करके छूट जाओगे, किन्तु नामापराध का प्रायश्चित्त तो यही है कि प्रबल नाम का वेग ही तुम्हें इस विपत्ति से बचा सकता है। तुमने परमज्ञानी नामाश्रयी विश्वरूप का वध किया है। यदि विश्वरूप से भी बढ़कर उसके गुरु चाहें तो तुम्हें वृत्र के भय से बचा सकते हैं। क्योंकि सबल पाप निर्बल उपायों से नष्ट नहीं होता।"

इस पर इन्द्र ने पूछा—"भगवन्! विश्वरूप के गुरु कौन हैं? उन्हें यह नारायण कवच कहाँ से प्राप्त हुआ था, उन्हीं की चलकर अनुनय विनय करें?"

भगवान् ने कहा—"विश्वरूप के गुरु हैं, उसके पिता त्वष्टा, यदि त्वष्टा भी चाहें, तो तुम्हें इस विपत्ति से नहीं छुड़ा सकते। नामापराधी की नामाश्रयी को छोड़कर मैं भी रक्षा नहीं कर सकता।"

इस पर अत्यन्त उदास होकर इन्द्र ने कहा—"प्रभो! त्वष्टा क्यों हमारी बात सुनने लगे। उनके ही पुत्र का तो हमने वध किया है। उन्होंने ही तो पुत्रशोक से पीड़ित होकर मुझे मारने के लिये वृत्रासुर को उत्पन्न किया है। वे तो मुझे मरवाना ही चाहते हैं।"

भगवान् हँसते हुये बोले—"देवेन्द्र! तुम्हें कोई मार नहीं सकता, क्योंकि तुमने नारायण कवच को जान लिया है। ऋषि ने भी रोष में भरकर कर्मकाण्ड का आश्रय लिया। कर्मकाण्ड तो विधि के अधीन है, जहाँ विधि में तनिक भी वैगुण्य हुआ, वहाँ सब करा कराया व्यर्थ हो जाता है। राक्षस यज्ञों में सदा छिद्र देखते रहते हैं, विधिहीन यज्ञ का कर्त्ता शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। एक भी शब्द स्वर से, वर्ण, मात्रा से मिथ्या प्रयुक्त होने पर उस संकल्प की पूर्ति नहीं कर सकता, जिसके निमित्त वह

यज्ञानुष्ठान आरम्भ किया गया है। यही नहीं वह वाक्य वज्र बनकर यजमान का ही नाश करता है। महामुनि त्वष्टा ने इस संकल्प से अग्नि में हवन किया था कि "इन्द्र का शत्रु- इन्द्र को मारने वाला वृद्धि को प्राप्त हो, उत्पन्न हो।" उच्चारण में एक स्वर की भूल हो गई "इन्द्रशत्रो" उकार में उन्हीं उदात्त का उच्चारण करना चाहिये था। तब अर्थ होता है कि इन्द्र को मारने वाला शत्रु उत्पन्न हो। किन्तु भूल से इन्द्र के इकार को उदात्त उच्चारण कर गये, इस स्वरदोष से उसका अर्थ हुआ इन्द्र रूप जो शत्रु उसकी वृद्धि को उत्पन्न हो। अर्थात् इन्द्र जिसे मार दे। इस प्रकार कर्मकाण्ड की विधिहीनता के कारण वह तुम्हें मार तो सकता नहीं। किन्तु तुमने नामापराध किया है, जिससे नामापराध हो जाय उसे अधिक से अधिक संकीर्तन करना चाहिये। जितना नाम जप पहिले करता था उससे कहीं अधिक धारा प्रवाह से अविश्रान्त प्रयोग करना चाहिये। विश्वरूप से बलवान उसके गुरु त्वष्टा हैं, वे तुम्हें इस नामापराध से मुक्त कर सकते हैं। इस असुर भाव सम्पन्न वृत्र को भगा सकते हैं, किन्तु उनका भी तुमने अपराध किया है, वे भी तुमसे असन्तुष्ट हैं, अतः तुम सब उनके भी गुरु की शरण में जाओ। विश्वरूप के बाबागुरु तुम्हें अवश्य ही इस विपत्ति से बचा सकेंगे।"

इन्द्र ने पूछा—"भगवन्! त्वष्टा मुनि के गुरु कौन हैं? उन्हें किनके द्वारा यह नारायण कवच प्राप्त हुआ था।"

भगवान् बोले—"त्वष्टा मुनि के गुरु वे ही महामुनि दधीचि हैं। दधीचि से ही यह विद्या विश्वरूप के पिता त्वष्टा को मिली और त्वष्टा ने यह अमोघ नारायणीय विद्या विश्वरूप को प्रदान की। अतः वे चाहें तो इस वृत्र को ही नहीं इससे असुर भाव सम्पन्न लाखों करोड़ों असंख्यों दैत्यों को मार सकते हैं।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"भगवन् ! वे शांत प्रकृति के तपस्वी ठहरे, वे लड़ाई झगड़े के चक्कर में कब पड़ने लगे। वे हमारे साथ युद्ध करने काहे को आवेंगे ?"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! तभी तो मैं कहता हूँ, तुम सब उनसे जाकर उनकी हड्डियों को माँग लो। उस बूढ़े की पुरानी हड्डियों में बड़ा सार भरा है। नारायण नाम उनकी हड्डी-हड्डी में व्याप्त हो गया है, इससे वे हड्डियाँ परम पावन तेज और कान्तियुक्त बन गई हैं। उनसे जो वज्र बनेगा, वह तुम्हारे सदा काम में आवेगा। उससे तुम पर्वतों को चूर्ण कर सकोगे, असुरों का संहार कर सकोगे, युद्ध में विजय प्राप्त कर सकोगे।"

इस पर इन्द्र ने शंकित चित्त से कहा—"यदि भगवन् ! हमारे माँगने पर भी उन्होंने अपनी हड्डियों का देना स्वीकार न किया तो ?"

शीघ्रता के साथ भगवान् बोले—"अरे, तुम बड़े शंकित चित्त वाले हो ! हम कहते तो हैं, वे अवश्य परोपकार के लिये अपने शरीर को दे देंगे। उनकी पवित्र नामपूत अस्थियों से जो विश्वकर्मा वज्र बनावेंगे उसमें मैं भी अपना वैष्णव तेज स्थापित कर दूँगा। उन हड्डियों से केवल तुम्हारा वज्र ही न बनेगा, किन्तु तुम्हारे खोये हुए—लुप्त हुए सभी अस्त्र-शस्त्र उनकी हड्डियों से फिर से निकल आवेंगे। विविध अस्त्र-शस्त्र बन जायँगे।"

यह सुनकर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"सूतजी ! देवताओं के अस्त्र-शस्त्र लुप्त कैसे हो गये थे ? वे महामुनि दधीचि की हड्डियों में कैसे आ गये ? इस बात को सुनकर हमारे हृदय में बड़ा कौतूहल हो रहा है, यदि उचित समझें, तो आप हमारी इस शंका का समाधान कर दें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! यह एक बड़ी ही सुन्दर,

बड़ी ही मनोहर, शिक्षाप्रद कथा है, इसे मैं आपके सम्मुख कहता हूँ। इसके श्रवण से आपकी शंका का समाधान हो जायगा और बहुत-सी सुन्दर शिक्षायें भी मिलेंगी।"

छप्पय

विश्वरूप ने तुम्हें कवच नारायन दीन्हों।
पितु त्वष्टा तें विश्वरूप द्विजवरने लीन्हों॥
मुनि दधीचि ने दयो तपस्वी त्वष्टा कूँ पुनि।
अस्थिनि महँ बिँधि गयो भये अतिई पावन मुनि॥
परोपकारी कूँ कहो, कौन कठिन जग काज है।
पर कारज के हेतु तो, तुच्छ देह, धन राज है॥

दधीचि मुनि की हड्डियों में देवताओं के दिव्यास्त्र

[३९८]

तस्मिन्विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः ।
भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ९ अ० ५५ श्लो०)

छप्पय

मुनि दधीचि ढिँग गये देव असुरनिकूँ जय करि ।
मुनितें बोले असुर महामुनि ! देवनि भय हरि ॥
इन अस्त्रनि तें हमनि असुर रिपु सब संहारे ।
अब ये सबई दिव्य अस्त्र हैं व्यर्थ हमारे ॥
नष्ट असुर करि देइँगे, प्रभु इनकी रच्छा करहु ।
रहें सुरच्छित यहाँ पै, इनकूँ निज आश्रम धरहु ॥

दूसरों की धरोहर अपने समीप में रखना, बैठे ठाले की विपत्ति सिर पर ले लेना है। यदि कोई विश्वास करके हमारे पास रख गया तो, रात्रि दिन उसकी चिन्ता बनी रहती है।

---

* श्री भगवान् देवताओं को आश्वासन देते हुए वृत्रासुर के वध का उपाय बताकर कहते हैं—"देवताओ ! वृत्रासुर के मारे जाने पर तुम अपने सब खोये हुए, लुप्त अस्त्र शस्त्रों को फिर से प्राप्त कर सकोगे। जो मेरे प्रपन्न है, भक्त हैं, उनकी कोई हिंसा कर ही नहीं सकता। अब तुम्हारा कल्याण हो, तुम दधीचि मुनि के समीप जाओ।"

यदि वह नष्ट हो गई, मन में लोभ आ गया, तो मरकर नरक में जाना पड़ता है और बिना दिये मर गये तो उस व्यक्ति के सम्बन्धी बनकर दूसरे जन्म में ऋण चुकाना पड़ता है। इस प्रकार किसी वस्तु को अपने समीप रखना बड़ी विपत्ति का कार्य है।

एक कहानी है एक नगर में दो संत रहते थे। एक तो गृहस्थी थे, धर्माचार्य और बड़े प्रतिष्ठित सदाचारी करके प्रसिद्ध थे। लोक में उनकी बड़ी ख्याति थी। बड़े-बड़े धनिक उनके शिष्य थे। दूसरे संत बड़े विरक्त थे। सब लोग उन्हें पागल समझते थे। वे कूड़े करकट में जाकर बैठते, नंगे रहते और हाथ में सुरा की बोतल लिये रहते। सब लोग तो उन्हें पागल समझते थे किन्तु ये धर्माचार्य उनमें आदर बुद्धि रखते थे। उन्हें यह विश्वास था, कि ये कोई अद्वितीय महापुरुष हैं। इन्होंने अपनी चर्या ही ऐसी बना रखी है।

उसी नगर में एक बहुत धनिक महाजन था। उसकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया था। उसके एक अद्वितीय रूपलावण्ययुक्ता षोडश वर्षीया पुत्री थी। महाजन का उसके प्रति अत्यन्त ही स्नेह था। वह इतनी सुन्दरी थी कि उसके समान रूपवती उस प्रान्त में कोई कन्या नहीं थी। एक बार महाजन को कहीं बाहर जाने का काम पड़ा उन दिनों यातायात की सुविधायें आज के समान नहीं थीं। महाजन को अकेले ही जाना था। अब उसे चिन्ता हुई कि मैं इस कन्या को किसके पास छोड़ जाऊँ। उसे किसी का विश्वास ही नहीं होता था। सोचते-सोचते उसे ध्यान आया ये धर्माचार्य बड़े सदाचारी और प्रसिद्ध पुरुष हैं, इनके पास अपनी लड़की को मैं छोड़ जाऊँगा तो मुझे कुछ चिन्ता न रहेगी।" यह सोचकर वह उन धर्माचार्य के समीप गया और अपने मनोगत भावों को कह सुनाया। धर्माचार्य कुछ काल तक

सोचते रहे और अन्त में उन्होंने महाजन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। महाजन अपनी लड़की उनके घर में छोड़कर चला गया। नियम ऐसा होता है कि जब तक विषय इन्द्रियों के सम्मुख नहीं होते तब तक हम विवेक द्वारा उनमें दोष देखकर चित्त को उनकी ओर से हटा लेते हैं। किन्तु अत्यन्त आकर्षक विषय इन्द्रियों के सम्मुख हुए कि फिर मन वश में रहता नहीं, मतवाले हाथी की भाँति दृढ़ लौह शृङ्खला को भी तोड़कर स्वछन्द हो जाता है। इसीलिये त्यागियों के लिये कहा गया कि वे विषयों से भरसक दूर रहें। उस अत्यन्त सुन्दरी युवती लड़की को देखकर धर्माचार्य का चित्त चंचल हो उठा, एक ओर तो धर्म संकट। एक पिता हमारे विश्वास पर बिना सन्देह के अपनी लड़की को यहाँ छोड़ गया है उस पर कुदृष्टि करना पाप है। दूसरी ओर मन स्वतः ही उसकी ओर खिँचने लगा। धर्माचार्य बड़े धर्म संकट में पड़े जो लड़की पास में है, उसे कहीं पृथक् भी नहीं कर सकते और धर्म से भी विचलित नहीं हो सकते। उनके मन में द्वन्द युद्ध होने लगा। जब सब लोग सो गये तो वे चुपके से अकेले ही उठकर उन पागल महात्मा के समीप पहुँचे। वे एक घूरे पर बैठे थे चिथड़े लपेटे थे। हाथ में सुरा की बोतल थी। इन्हें देखते ही वे हँस पड़े और बोले—"ओहो, आप इतने बड़े धर्माचार्य होकर मेरे समीप रात्रि में अकेले कैसे आये?"

धर्माचार्य उन्हें प्रणाम करके बैठ गये और कहने लगे—"भगवन्! मैं समझता हूँ आप उच्चकोटि के सन्त हैं, फिर आप ऐसे निषिद्ध आचरण क्यों करते हैं? सुरापान करना तो पाप है।"

यह सुनकर वे फक्कड़ सन्त खिल-खिलाकर हँस पड़े और बोले—"हम इसलिये ऐसा निषिद्ध आचरण करते हैं कि कोई अपनी सुन्दरी रूपवती युवती कन्या को हमारे यहाँ विश्वास

पर न छोड़ जाय। देखिये, महाशय मेरी इस बोतल में सुरा नहीं है शुद्ध गङ्गाजल है। मैं तो वैसे ही इसे साथ लिये रहता हूँ। संसारी लोग बड़े स्वार्थी होते हैं। हमारे यम, नियम, व्रत, धर्म, सदाचार का ये अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। साधु पुरुषों को सदा सचेष्ट रहना चाहिये।"

यह सुनकर धर्माचार्य ने यह निश्चय किया कि दूसरों की वस्तु को न्यास रूप में धरोहर की भाँति रखना निरापद नहीं है, जानबूझकर विपत्ति मोल लेना है।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे यह बात पूछी थी कि दधीचि मुनि की हड्डियों में देवताओं के अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति कहाँ से आ गई सो, मैं आपके सम्मुख इस इतिहास को कहता हूँ।

एक बार बड़ा भारी देवासुर संग्राम हुआ, उसमें पराजित होकर असुर भाग गये देवताओं की विजय हुई। इस पर देवताओं को हर्ष हुआ। अब उन्हें एक चिन्ता हुई, वे सोचने लगे—"जिन दिव्य अस्त्र-शस्त्रों के प्रभाव से हमने अपने शत्रु दैत्य, दानव, असुर तथा राक्षस आदि को जीता है वे अस्त्र यदि सुरक्षित न रहे तो हमें पुनः हारना पड़ेगा। स्वर्ग में हम रखते हैं तो उनका पता लगाकर दैत्य दानव उन्हें चुरा ले जायँगे नष्ट कर देंगे, या उन्हीं से हमें पराजित कर देंगे। अतः इनको कहीं सुरक्षित रख देना चाहिये। ऐसे पुरुष के पास रखें जो धर्मात्मा हो, सत्यवादी हो, तपस्वी और तेजस्वी हो, जिससे इनकी रक्षा में किसी प्रकार का सन्देह न रह जाय।"

बहुत से ऋषियों की बात सोचते-सोचते देवताओं को सत्यवादी महामुनि दधीचि का नाम स्मरण हो आया, ये मुनि बड़े धर्मात्मा हैं, कभी भूल में स्वप्न में भी असत्य नहीं बोलते। सदा तप स्वाध्याय में निरत रहते हैं। शत्रु मित्र को एक समान सम-

भ्रते हैं। परम परोपकारी और दीन दुखियों का दुःख दूर करने वाले हैं। यदि इनकी संरक्षता में ये अस्त्र-शस्त्र रहें तब तो अवश्य ही सुरक्षित रह सकते हैं यह सोचकर विजय के उल्लास से प्रसन्न हुए सभी देवता अपने-अपने अस्त्रों को लेकर दधीचि मुनि के आश्रम पर पहुँचे।

कलकल निनादिनी भगवती गङ्गा के तट पर महर्षि का शांत एकान्त निरापद आश्रम था, उसमें बहुत से सुन्दर सुन्दर पुष्प और फलों वाले वृक्ष थे। मुनि के तपस्या के प्रभाव से सभी वृक्षों के पत्ते चिकने और सुन्दर थे। वन के जीव जन्तु बिना बैर-भाव और भय के मुनि के आश्रम में विचरण कर रहे थे। सम्पूर्ण आश्रम ब्राह्मी श्री से युक्त था। मुनि की तपस्या के प्रभाव से दैत्य दानव राक्षस तथा असुर आदि किसी शत्रु का वहाँ भय नहीं था। सम्पूर्ण आश्रम लिपा पुता स्वच्छ और निर्मल था। उसमें स्थान-स्थान पर देवताओं की पीठें बनी हुई थीं, अग्नि-शाला में पूजित अग्नि प्रदीप्त थी। उन प्रज्वलित वैदिक अग्नियों के बीच में दधीचि मुनि भी अपने तपः तेज के कारण अग्नि के समान ही प्रतीत होते थे। मुनि के कार्यों में उनकी भार्या सदा अव्यग्र भाव से सहयोग दिया करती थी। उस पतिप्राणा, पति-व्रता यशस्विनी मुनि पत्नी का नाम गभस्तिनी था उसका जन्म श्रेष्ठ वंश में हुआ था। महाराजा की पुत्री थी, इनकी एक बहिन लोपामुद्रा भगवान् अगस्त की पत्नी थीं उसी प्रकार ये थीं। बड़ी सती-साध्वी और सदाचारिणी थीं। अपने पति को साक्षात् परमेश्वर मानकर पूजतीं और उनकी प्रत्येक आज्ञा का बिना विरोध किये हृदय से प्रसन्नतापूर्वक पालन किया करती थीं। उस पतिव्रता के तेज से सभी प्राणी परिचित थे।

देवताओं ने आश्रम पर पहुँचकर दधीचि मुनि के दर्शन किये। अपने आश्रम पर एक साथ ही रुद्र, आदित्य, अश्विनी–

कुमार, यम, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, वायु अग्नि आदि देवों को देखकर मुनि सहसा अपने आसन से उठकर खड़े हो गये और उन्होंने देवताओं का सत्कार किया। सभी को पृथक्-पृथक् आसन दिये। पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, जल और कन्दमूल फल भेंट करके सभी की विधिवत पूजा की। दोनों से कुशल प्रश्न हो जाने के अनन्तर मुनि ने देवताओं से विनीत भाव से पूछा—"देवताओ! आज आप सबने मुझे दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। आपके पधारने से मेरा आश्रम पावन बन गया। आप सबने किस कारण कष्ट किया। क्या आप मुझे कोई सेवा समर्पित करके कृतार्थ करना चाहते हैं? क्या इस नश्वर शरीर से किसी का कुछ उपकार हो जाय, तो इससे बढ़कर कोई भी इस देह का उपयोग है? यदि कोई सेवा हो, तो उसे आप निःसंकोच होकर कहें।

मुनि की ऐसी मीठी वाणी सुनकर देवताओं ने कहा—"मुनिवर! यह प्रसन्नता की बात है, कि आप हम पर सन्तुष्ट हैं। एक तो हम विजय के कारण ही अत्यंत प्रमुदित थे, फिर आज आपके दुर्लभ दर्शन पाकर तो हमारे हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, हमारे रोम-रोम खिल उठे। ब्रह्मन्! हमने अपने शत्रु असुरों को अपने दिव्य अस्त्र-शस्त्रों के प्रभाव से हरा दिया है अब हम निष्कंटक हो गये हैं। किन्तु अब हमें सबसे बड़ी चिन्ता इन अस्त्र-शस्त्रों की रक्षा के लिये है। यदि ये सुरक्षित न रह सके तो असुर फिर आकर हमें पराजित कर देंगे।"

मुनि दधीचि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"बड़ी अच्छी बात है, आप सबने विजय लाभ किया। यह बड़ा मंगलप्रद सुखद समाचार है। आप अपने अस्त्रों को स्वर्ग में गुप्त स्थान में रखकर उनकी सावधानी से रक्षा करें।"

देवताओं ने कहा—ब्रह्मन्! स्वर्ग में इन सब दिव्य अस्त्र-

शस्त्रों की रक्षा हो ही नहीं सकती। हमारे शत्रु असुर बड़े मायावी हैं। जहाँ उन्हें पता लगा नहीं कि वे चुरा लेंगे, नष्ट तथा तेजोहीन कर देंगे।"

दधीचि मुनि ने गम्भीर होकर कहा—"तब तुम लोग मुझसे क्या चाहते हो ?"

देवताओं ने हाथ जोड़कर कहा—"भगवन् ! हम यह चाहते हैं, ये अस्त्र-शस्त्र आपके आश्रम में रहें तो सुरक्षित रह सकते हैं। आपसे सब डरते हैं। आपकी तपस्या के प्रभाव से दैत्य, दानव, यक्ष, राक्षस, असुर भी यहाँ फटकने नहीं पाते। अतः कृपा करके हमारे अस्त्रों को आप धरोहर के रूप में रखकर हमारे दुःख को दूर करें, हमें निर्भय कर दें।"

देवताओं की ऐसी विनय सुनकर परोपकारी दयालु मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, छोड़ जाओ अपने सभी दिव्य अस्त्र-शस्त्रों को। उनकी रक्षा मैं करूँगा।"

अब तक मुनि पत्नी गभस्तिनी चुपचाप खड़ी देवता और मुनि की बातें सुन रही थीं। अब उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने दीनभाव से कहा—"स्वामिन् ! आप यह बैठे ठाले बिना बात अपने सिर पर विपत्ति का बोझा क्यों लाद रहे हैं। भगवन् ! आपका न कोई शत्रु न कोई मित्र। आपको जय विजय समान है। असुर भी आपका सम्मान करते हैं, देवता भी, फिर आप अकारण असुरों से बैर क्यों ठानते हैं ?"

मुनि ने कहा—"मैं असुरों से बैर कहाँ कर रहा हूँ। देवताओं के दुःख में उनकी दयावश सहायता कर रहा हूँ। असुरों से बैर करना मेरा उद्देश्य नहीं है।"

मुनि पत्नी ने कहा—"ब्रह्मन् ! अपने शत्रु को जो सहायता देता है बुद्धिमान् उसे भी शत्रु के समान समझते हैं। आप देवताओं की सहायता दे रहे हैं इससे असुर आपसे द्वेष मानेंगे,

वैर भाव बढ़ेगा, आपकी समता नष्ट हो जायगी। जिन्हें संसार के व्यवहार करने हैं, उनकी बात तो है दूसरी, किन्तु जिन्होंने श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा परमार्थ तत्व का निर्णय कर लिया है, जो यथार्थ तत्व में सदा स्थित हैं, जिन्हें संसारी कार्यों में कोई आसक्ति नहीं उन्हें ऐसे चक्कर में पड़ना उचित नहीं। बिना बात दूसरों के निमित्त संकट सिर पर लाद लेना यह तो मुझे रुचिकर प्रतीत होता नहीं।"

हँसते हुए मुनि ने कहा—"प्रिये! इसमें अपनी हानि ही क्या है? हमें कुछ लेने तो हैं नहीं। न हम इनका कुछ उपयोग करेंगे। रखे रहेंगे, देवता जब आकर माँगेंगे दे देंगे।"

गभस्तिनी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"महाराज! रखे रहने से ही तो काम न चलेगा। आपको इनकी रक्षा करनी पड़ेगी। अस्त्रों को रखते हैं। असुर आपसे द्वेष करने लगेंगे। मान लो किसी कारण से चोरी ही चले गये, तो इतने दिन की श्रमपूर्वक की हुई रक्षा सब व्यर्थ चली जायगी, देवता आपसे द्वेष करने लगेंगे, अतः मेरी सम्मति में प्रभो! दूसरों की वस्तुओं में ममत्व करना उचित नहीं। आप देवताओं को असुरों के विरुद्ध सहायता दे रहे हैं।"

मुनि ने कहा—"अच्छा, सहायता ही सही। दीन दुखियों की सहायता करना कोई बुरी बात तो है नहीं। अपने से किसी का कुछ उपकार हो जाय, तो अति उत्तम है।"

शीघ्रता के साथ मुनि पत्नी ने कहा—"भगवन्! मैं सहायता देने को मना नहीं कर रही हूँ। परोपकार तो सज्जनों का भूषण ही है। किन्तु इस प्रकार की धरोहर रखना यह परोपकार नहीं है। अपने पास धन हो और दीन दुखी आ जाय, तो उसे तत्क्षण विदा देकर कर देना चाहिये। धन न हो तो साधु पुरुषों को मन, वाणी और शरीर से ही दूसरों की सहायता करनी

चाहिये। इस प्रकार धरोहर रखने की वस्तु की सदा विद्वानों ने निन्दा की है। इन्हीं देवराज इन्द्र ने धरोहर रखकर एक तपस्वी को भ्रष्ट कर दिया था।"

मुनि ने पूछा—"इन्द्र ने तपस्वी को भ्रष्ट कैसे किया? इस कथा को मुझे सुनाओ।"

गभस्तिनी ने कहा—"ब्रह्मन्! एक अरण्य में एक परम तपस्वी मुनि रहते थे। वे कभी हिंसा नहीं करते थे, घोर तपस्या में सदा निरत रहते थे। उनकी ऐसी उग्र तपस्या को देखकर इन देवराज इन्द्र को बड़ा भय हुआ, कि कहीं यह तपस्या के द्वारा मेरा इन्द्रासन न छीन ले। अतः इन्होंने उसके तप में विघ्न डालने का निश्चय किया। एक दिन ये एक योद्धा का वेश बनाकर उन तपस्वी के आश्रम पर गये। तपस्वी ने इनको अतिथि समझकर सत्कार किया, इन्होंने विनीत भाव से कहा—"ब्रह्मन्! मुझे एक स्थान में बिना खड्ग के जाना है। जब तक मैं लौटकर न आऊँ तब तक आप इस खड्ग की रक्षा करते रहें।"

भोले-भाले तपस्वी मुनि इनकी चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गये। उन्होंने खड्ग रख ली! ये वहाँ से चले गये। अब तो मुनि को चिन्ता रहने लगी, कहीं खड्ग खो न जाय। दूसरे की धरोहर है, अतः वे कन्दमूल, फल लेने जब बन में जाते, तो उस खड्ग को भी साथ-साथ ही रक्षा के निमित्त ले जाते थे।"

मुनि पत्नी गभस्तिनी कहती है—"ब्रह्मन्! हाथ में लेखनी हो तो अकारण ही कुछ लिखने की इच्छा होती है। वैद्य सम्मुख हो, तो बिना रोग के ही नाड़ी दिखाने को चित्त चाहता है, इसी प्रकार हाथ में अस्त्र-शस्त्र लाठी डण्डा हो तो, पेड़ पत्ती, कुत्ता-बिल्ली पर ही चला देते हैं। निरन्तर खड्ग साथ रहने से मुनि के मन में हिंसा जाग्रत हुई, पहले तो वे आत्मरक्षा के निमित्त उसका उपयोग करने लगे, फिर मांस के लोभ से जीवों

को मारने लगे। इन्द्र तो यह चाहते ही थे, तपस्वी से वे हिंसक बन गये। उस खड्ग की रक्षा के कारण ही उनका तप नष्ट हो गया। अतः प्राणनाथ! मेरी सम्मति नहीं है, कि आप इन अस्त्रों को यहाँ रखें।

पतिव्रता गभस्तिनी की ऐसी स्पष्ट बातें सुनकर देवताओं का तो हृदय धड़कने लगा, वे लज्जित से हो गये, गभस्तिनी से वे अत्यधिक डरने लगे। उनका मुख फक्क पड़ गया। देवताओं को दुःखी देखकर मुनि को दया आ गई। वे अपनी प्यारी पत्नी से बोले—"कल्याणि! देख, मैंने इन बिचारे देवताओं को दुखी देखकर यहाँ अस्त्र-शस्त्र रखने का वचन दे दिया है, अब यदि न रखूँगा तो झूठा बनूँगा। मुझे चिन्ता बनी रहेगी, चित्त में नाना संकल्प-विकल्प उठते रहेंगे। साधु पुरुष जिसे जो वचन देते हैं उसका पालन प्राण देकर भी करते हैं। अतः तू मुझे अब इस काम से रोके मत।"

पतिव्रता स्त्री अपने पति की इच्छा के प्रतिकूल आचरण कैसे कर सकती है। उसने सोचा कोई भी मनुष्य आने वाली विपत्ति को पुरुषार्थ से टालने में समर्थ नहीं। दैव की गति दुर्निवार है। यही सब सोच समझकर उसने फिर विरोध नहीं किया। देवता अपने-अपने दिव्य अस्त्र-शस्त्रों को रखकर प्रसन्न होते हुए स्वर्ग को चले गये। इधर मुनिवर उन अस्त्रों की बड़ी सावधानी से रक्षा करने लगे। असुर भी घात में रहने लगे कि किसी प्रकार मुनि से लेकर इन अस्त्र-शस्त्रों को नष्ट कर दें। किन्तु मुनि की तपस्या, तेज के कारण उनका साहस नहीं होता था। इस प्रकार अस्त्रों को रखे-रखे देवताओं के वर्षों से हजार वर्ष हो गये। देवता फिर अस्त्र लेने आये ही नहीं।

अब बहुत दिन हो गये तो मुनि ने अपनी पत्नी से कहा—"कल्याणी! तुम्हारी बात ठीक निकली। आजकल दैत्य मुझसे

द्वेष करने लगे हैं। वे सर्वदा अस्त्रों की घात में रहते हैं, कि इन्हें चुरा लें। देवता यहाँ से अस्त्रों को ले जाना नहीं चाहते। अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ ?"

पतिव्रता ने हाथ जोड़कर दीनता से कहा—"प्रभो ! मैंने तो यही निवेदन किया था। मैं क्या बताऊँ, आप सर्वज्ञ हैं सर्वसमर्थ हैं, जैसा उचित समझें वैसा करें।"

अपनी पत्नी की ऐसी बात सुनकर धर्म के मर्म को जानने वाले मन्त्रद्रष्टा सर्वसमर्थ मुनि ने उन दिव्य अस्त्रों को मन्त्रों द्वारा जल में धोया। उनकी जितनी भी दैविक शक्ति थी, उसे खींच कर मुनि ने जल में स्थापित किया और उस जल को वे पी गये। अब उस सर्वास्त्रमय परम पवित्र तेजयुक्त जल को पीकर मुनि पचा गये। वह तेज उनकी अस्थियों में व्याप्त हो गया। तेज निकल जाने से वे धातु के अस्त्र-शस्त्र शक्तिहीन होकर कालान्तर में नष्ट हो गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसी कारण दधीचि मुनि की अस्थियों में सभी अस्त्र-शस्त्र विद्यमान थे। तभी भगवान् ने देवताओं को मुनि की अस्थि से वज्र तथा दूसरे अस्त्र-शस्त्र बनाने की आज्ञा दी। भगवान् की आज्ञा पाकर जिस प्रकार देवता उनसे उनकी अस्थि माँगने गये, उस प्रसंग को मैं आगे आपसे कहूँगा।"

छप्पय

स्वीकारी सुर विनय अस्त्र मुनि ने धरि लीन्हें।
गभस्तिनीतें डरे देव मुनि निर्भय कीन्हें॥
सुर लैवे नहिँ गये न्यास रक्षाके भयतें।
पीये मुनि सब धोय पचाये अपने तपतें॥
ते अस्थिनि महँ बिँधि गये, वज्र सरिस सबरी भईं।
शुद्ध हतीं तप तें प्रथम, परम शुद्ध अब ह्वै गईं॥

देवताओं की दधीचि मुनि से देहयाचना

[३६६]

अपि वृन्दारका यूयं न जानीथ शरीरिणाम् ।
संस्थायां यस्त्वभिद्रोहो दुःसहश्चेतनापहः ॥
जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः ।
क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णवे ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १० अ० ३, ४ श्लोक)

छप्पय

ताही तें हरि कही अस्थि मुनि की ले आओ ।
फिरितें अपने अस्त्र शस्त्र अरु वज्र बनाओ ॥
हरि आयसु स्वीकारि चले सुरमुनि ढिँग तबई ।
पढ़ी पढ़ाई बात सुनाई देवनि सबई ॥
सुनि दधीचि बोले बिहँसि, कठिन फन्द तनु नेह को ।
माँगे चाहें विष्णुई, देवै दुर्लभ देह को ॥

सरलता से–बिना आशा निराशा की प्रतीक्षा की जो वस्तु

---

* देवताओं ने जब दधीचि मुनि से उनकी अस्थियों को मांगा तो वे कहने लगे—"अरे देवताओ! क्या तुम लोग इस बात को नहीं जानते कि शरीरधारियों के लिये देह त्याग करने में अचेत कर देने वाला दुःसह दुख होता है। संसार में जो जीवित रहना चाहता है, ऐसे पुरुष को देह अत्यन्त ही प्रिय होती है। उसे देने का साहस कौन कर सकता है फिर चाहे साक्षात् विष्णु भगवान् ही आकर क्यों न मांगे।"

प्राप्त हो जाती है उसकी प्राप्ति में उतना सुख नहीं प्राप्त होता जो वस्तु जितनी ही प्रतीक्षा के पश्चात् प्राप्त होती है, उतनी ही आनन्द वर्धक मानी जाती है। खिलवाड़ में बच्चे को बुलाते हैं, वह आता नहीं, हम बार-बार उसे बुलाते हैं, वह हँसता है, सिर हिलाता है, छूकर भाग जाता है। कभी अवसर पाते ही हम उसे पकड़ लेते हैं, गोद में बिठाकर मुँह चूमकर प्यार करते हैं, वह भी खिलखिला पड़ता है, अपने को भी प्रसन्नता होती है। वहाँ जो बच्चा बार-बार गोद में आने से मना कर रहा था, तो उसका अभिप्राय यह नहीं था, कि मैं गोद में न आऊँ। गोद में आने को वह भी स्वयं उत्सुक था, किन्तु बार-बार मना करने से इच्छा को बलवती बना रहा था, उसकी वृद्धि कर रहा था।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पराजित दुखित देवताओं की विनती सुनकर भगवान् प्रकट हुए थे और उन्हें यह सम्मति देकर कि तुम महामुनि दधीचि की अस्थि माँग लाओ, उसी से इन्द्र का वज्र और तुम सबके अस्त्र-शस्त्र बनेंगे।" देवताओं के देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये।"

भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर सभी देवता मिल जुलकर महामुनि दधीचि के आश्रम पर पहुँचे। उस समय महामुनि दधीचि अपने सभी नित्य कर्मों से निवृत्त बैठे थे। शरद् ऋतु की समाप्ति का समय था। जिस पुण्यतोया सरिता के समीप मुनि का आश्रम था, वहाँ से इस वर्ष धारा बहुत दूर चली गई थी। मुनिपत्नी पतिव्रता गभस्तिनी सब कर्मों से निवृत्त होकर कुछ छोटे ब्रह्मचारियों और गौओं को साथ लेकर मध्यान्होत्तर गंगा के समीप चली जातीं। वहाँ गौओं को बछड़ों को न्हिलातीं बर्तनों को मलतीं, वस्त्रों को धोतीं, जल भरतीं और लेकर तब वह सायंकालीन सन्ध्या तक लौटकर आश्रम में आतीं। देवता उस पतिव्रता के प्रभाव और स्वभाव से परिचित थे, कि सती गभ-

स्त्रिनी अपने पति की प्राणों की रक्षा के निमित्त सब कुछ कर सकती है। अपने प्राणों की भी आहुति दे सकती है। हमें शाप देकर भस्म कर सकती है। इसलिये वे उस सती से बहुत डरते थे। रसोई के बर्तनों, गौओं और ब्रह्मचारियों को लेकर ज्योंही मुनि पत्नी सरिता की ओर चली त्यों ही देवताओं ने अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए, कपट की हँसी हँसते हुये मुनि के समीप जाकर उन्हें दण्डवत् की।

आज चिरकाल के अनन्तर देवताओं को अपने आश्रम पर देखकर मुनिश्रेष्ठ दधीचि अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और उनकी विधिवत् पूजा करके कुशल पूछने लगे। मुनि बोले—"देवताओ! तुम लोग मुझे भूल गये? कहो सब कुशल मङ्गल है न?"

हाथ जोड़े हुए दीनता प्रकट करते हुए देवताओं ने विनीत भाव से कहना आरम्भ किया—"कुशल कहाँ है भगवन्! कुशल होती, तो हम आपके दर्शन करने नहीं आते? महाराज! जब से आपके आश्रम से हम गये, तब से एक न एक झंझट लगा ही रहता है। ये असुर सुख पूर्वक हमें रहने नहीं देते। सदा वैर भाव स्थापित करके विग्रह बनाये रखते हैं। आज कल हम बड़े दुखी हैं। वैसे तो बहुत दिनों से दर्शन करने की इच्छा हो रही थी, किन्तु आज तो हम अपना दुःख सुनाने ही श्रीचरणों में उपस्थित हुए हैं।"

दधीचि मुनि ने कहा—"अरे, देवगण! तुम लोगों को क्या कष्ट है? अपनी विपत्ति का कारण मुझे बताओ।"

उदास होकर इन्द्र बोले—"क्या बतावें भगवन्! आज कल तो हम घर द्वार से हीन असुरों द्वारा पराजित हुए मारे-मारे फिर रहे हैं। हमारे पास दिव्य अस्त्र-शस्त्र भी नहीं थे, उन सबको

आपके समीप रख गये थे। अब जब पराजित हुए तब उनकी याद आई।"

कुछ लज्जित होकर मुनिवर बोले—"देवताओ! देखो तुम्हारे वर्षों से सहस्र वर्षों तक मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहा। तुम लोग लौटे ही नहीं थे। अत्यधिक समय पाकर संसारी सभी वस्तुयें शक्तिहीन होने लगती हैं। मैंने देखा चिरकाल तक कुछ भी उनका उपयोग प्रयोग न होने के कारण वे सब शक्तिहीन हुए जा रहे हैं, तो मैंने उनकी सम्पूर्ण शक्ति को जल में आकर्षित कर लिया और उस सर्वास्त्रमय अभिमन्त्रित पावन जल को मैं पी गया। मेरी समस्त हड्डियों में उन सब अस्त्र शस्त्रों का तेज व्याप्त हो गया। अतः देवताओ! मैं लज्जित हूँ कि तुम्हारी धरोहर की रक्षा न कर सका। मेरी इच्छा न्यास अपहरण की नहीं थी। अब आप लोग जैसा कहें।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"नहीं भगवन्! हम तो कुछ नहीं कहते। हम सब तो समझ ही रहे थे, कि इतने दिनों में अस्त्र-शस्त्र सभी शक्तिहीन हो गये होंगे, तभी तो हम इतनी विपत्ति पड़ने पर भी आपके समीप न आकर शेषशायी भगवान् श्रीमन्नारायण की शरण गये और उनके चरणों में अपना दुःख निवेदन किया। हमारा दुःख सुनकर उन्होंने एक विचित्र आज्ञा दी, जिसे हमें आपके सम्मुख कहने में भी बड़ी भारी लज्जा लगती है। अत्यन्त संकोच होता है।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए अपना पन दिखाते हुए मुनिवर बोले—"अरे, देवताओ! संकोच की कौन-सी बात है। भगवान् ने क्या आज्ञा दी है मुझे बताओ। अपने आत्मीयों से लज्जा थोड़े ही की जाती है?"

इस पर इन्द्र ने कहा—"महाराज! है तो अत्यन्त दोष की ही बात, किन्तु अर्थी तो दोषों को देखता नहीं। उसका लक्ष्य तो

होता है अपने स्वार्थ की सिद्धि करना। इसीलिये इच्छा न रहने पर भी हमें कहना ही पड़ता है। भगवान् ने कहा है—"संसार में इस समय दधीचि मुनि की भाँति ज्ञान, विज्ञान में पारङ्गत, तेजस्वी, तपस्वी यशस्वी, परोपकारी, सर्वहितकारी, त्यागी, विरागी दूसरा मुनि कोई है ही नहीं। वे सभी मुनियों के मुकुट मणि हैं। साधु समाज के चूड़ामणि हैं, उन्होंने इतनी घोर तपस्या की है कि उनकी समस्त अस्थियाँ तपोमय बन गई हैं। तप से पूत होने के साथ ही साथ उनमें समस्त अस्त्र-शस्त्र का तेज भी व्याप्त हो गया है, यदि उन अस्थियों से विश्वकर्मा एक वज्र बना दें तो उससे वृत्रासुर का संहार हो सकता है, इसके अतिरिक्त वृत्र के वध का–विपत्तियों से छूटने का–दूसरा उपाय है ही नहीं।"

यह सुनकर मुनिवर दधीचि हँसते हुए बोले—"अरे, शरीर में से अस्थियाँ ही निकल जायँगी तो फिर शरीर टिक ही कैसे सकता है। अस्थियों से ही तो यह ढाँचा बना है। हड्डी दे देने का अर्थ तो यह होता है, प्राणों का दान दे देना, शरीर का त्याग कर देना।"

देवताओं ने शंकित चित्त से कहा—"इसे तो भगवन्! आप ही समझ सकते हैं।"

खिलखिलाकर हँसते हुए मुनि ने कहा—"अरे, इसमें समझने की कौन-सी बात है भैया! इसे तो बच्चा भी समझ सकता है कि हड्डियों के देने का अर्थ है शरीर दे देना–मृत्यु को स्वेच्छा से आलिङ्गन करना। शरीर कुछ घास फूस तो है नहीं, बिना विचारे उठाकर दे दिया जाय। जो संसार में जीवित रहना चाहता है, वह शरीर देने की बात तो पृथक रही अपनी एक उँगली को भी स्वेच्छा से कटवाना न चाहेगा।"

इन्द्र ने कहा—"हाँ महाराज! यह तो हम सब समझते हैं,

हमें तो भगवान् ने जो आज्ञा दी थी, उसे ही आपके सम्मुख दुहरा दिया। हमने अपनी ओर से एक शब्द भी कुछ नहीं कहा, ऐसी भगवान् की आज्ञा है, अब आप जैसा उचित समझें।"

व्यङ्ग की हँसी हँसते हुए दधीचि ऋषि बोले—"अरे भैया, ब्रह्माजी की आज्ञा हो या विष्णुजी की अपना शरीर कौन दे सकता है? देह तो चाहे सूकर कूकर की क्यों न हो, वृद्धावस्था से जर्जरित तथा रोगों से ग्रस्त ही क्यों न हो, कोई भी जीवित रहने की इच्छा वाला पुरुष स्वेच्छा से अचेतन करने वाली, शरीर से प्राणों को पृथक् बना देने वाली मृत्यु को स्वीकार नहीं कर सकता।"

मुनि की ऐसी युक्ति युत बातें सुनकर देवताओं का मुख तो फक्क पड़ गया। वे समझ ही न सके, कि महामुनि हँसी कर रहे हैं। स्वार्थी का हृदय बहुत ही शंकित होता है। याचक का अंतः-करण सदा डांवा डोल होता है। जिस समय वह माँगने को चलता है, उसी समय वह मृत्यु को आलिंगन कर लेता है। प्राण-हीन शव होकर मानापमान की कुछ भी चिंता न करके तब किसी के सम्मुख हाथ फैलाना पड़ता है। याचक मृतक से भी अधिक घृणास्पद, तृण से भी अधिक हलका और वेदनिंदक से भी अधिक नीच तथा क्रोध से भी अधिक अनादरणीय माना जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"मुनियो! जब अपना स्वार्थ सिद्ध करना होता है और अपने में पुरुषार्थ तथा शक्ति नहीं होती, तो स्वार्थी पुरुष धर्म का आश्रय लेते हैं। उपदेशक बनकर परोपकार की शिक्षा देते हैं। इसी न्याय से देवगण दधीचि मुनि को परोप-कार का महत्त्व बताते हुए धर्म की बातें कहने लगे।"

—o—

छप्पय

स्वेच्छा तैं नहिं जीव देह अपनी कूँ त्यागे।
पापी, रोगी, मूढ, देह सबकूँ प्रिय लागे॥
सहें दुसह दुख किन्तु मृत्यु तोऊ भयकारी।
च्यौं तुम माँगो देव! देह की अस्थि हमारी॥
बोले सुर स्वारथ सहित, साधु सदा परहित निरत।
दुखित देव सब आप प्रभु, दुखियनि दुख मेंटत सतत॥

परोपकारी को कुछ भी अदेय नहीं

(४००)

किं नु तद् दुस्त्यजं ब्रह्मन्पुंसां भूतानुकम्पिनाम् ।
भवद्विधानां महतां पुण्यश्लोकेड्यकर्मणाम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ५ श्लो०)

छप्पय

जिनको व्रत है सतत दया जीवनि पै करिबो।
उनकूँ एक समान जगत् महँ जीवो मरिबो॥
परकारज हित हर्षि साधु प्राननि कूँ देवें।
दाता देहिँ अनित्य नित्य बदले महँ लेवें॥
कहें संतजन जगत् महँ, एक त्याग ई श्रेय है।
पर उपकारी के लिये, नहिँ कछु वस्तु अदेय है॥

छोटा "स्व" स्वार्थ है बड़ा "स्व" परमार्थ है। स्वार्थ और परमार्थ में इतना ही अन्तर है। जो स्वार्थ शरीर तक ही सीमित है—"मेरा शरीर सुखी रहे मैं दुर्बल न होऊँ, इस वस्तु को मैं ही खा लूँ, मेरे शरीर की ही रक्षा रहे" यह सब क्षुद्रातिक्षुद्र

---

*देवतागण महामुनि दधीचि से कह रहे हैं—"ब्रह्मन् ! जिनके शुभ कर्मों की पुण्यश्लोक पुरुष भी प्रशंसा करते हैं तथा जो सम्पूर्ण प्राणियों पर सदा अनुकम्पा किया करते हैं,-ऐसे आप जैसे महापुरुष किस वस्तु का त्याग नहीं कर सकते हैं। परोपकारियों के लिये कौन-सी वस्तु अदेय है ?"

स्वार्थ की भावना है। अब इस ओर "स्व" को बढ़ाया जाय मेरी स्त्री सुखी रहे, मेरे बच्चे सुखी रहे, मेरे परिवार वालों को कष्ट न हो" यह अपेक्षाकृत देह स्वार्थ है। मेरा नगर सुखी रहे, मेरे बन्धु बान्धव, परिवार के प्रवासी नगर निवासी परिचित प्रसन्न हों, यह उससे बड़ा है। मेरे प्रान्तवासी देशवासी ही प्रसन्न रहें और चाहें मरें या जीवें यह उससे भी बड़ा "स्व" है। सब प्राणी सुखी रहें, सब नीरोग रहें, सभी का कल्याण हो, कोई दुखी न हो। यह सब सबसे बड़ा, सबसे ऊँचा स्वार्थ है इसी का नाम परमार्थ भी है। ऐसे भाव रखने वाला ही मोक्ष का अधिकारी है। सर्वभूतों के हित में निरत रहने वाले परोपकारी पुरुषों के समीप अपनी कहलाने वाली तो कोई वस्तु ही नहीं। उनका तन, मन, धन सर्वस्व दूसरों के उपकार के लिये है। ऐसे परोपकारी पुरुषों की कभी भी मृत्यु नहीं होती, वे सदा अमर बने रहते हैं। जिसकी कीर्ति जीवित है, वह मर कर भी जीवित है। जिसकी अपकीर्ति चारों ओर फैली है वह जीता हुआ भी मृतक सदृश है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब हँसी हँसी में महामुनि दधीचि ने प्राणों के दान को दुस्त्यज बताया तब तो देवता उन्हें परोपकार का महत्व बताते हुए कहने लगे—"ब्रह्मन्! जैसी बात आप कह रहें हैं वैसी संसारी लोगों को शोभा देती है। यह सत्य है, अपनी-अपनी देह सभी को प्यारी होती है। प्राणों की रक्षा करनी चाहिये, किन्तु आप जैसे परोपकारी महापुरुष इसके अपवाद हैं। आपके मुख से ये बातें शोभा नहीं देतीं। परोपकारी पुरुषों के लिये तो संसार में कुछ अदेय वस्तु है ही नहीं। धर्म की, देवताओं की रक्षा करना तो महापुण्य का कार्य है, परोपकारी पुरुष तो पशु पक्षियों के लिये

प्राण दे देते हैं। देखिये महाराज शिवि ने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने प्राणों को दे दिया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"सूतजी! महाराज शिवि ने कपोत के लिये कैसे प्राण दे दिये इस कथा को हमें सुनाइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न करने पर सूतजी कहने लगे—"भगवन्! आपने सुना ही होगा, प्राचीन काल में परम यशस्वी उशीनर बड़े ही धर्मात्मा और प्रजा के परम प्रीति भाजन भूपति हो चुके हैं। पुण्य श्लोक महाराज शिवि उन्हीं के पुत्र थे। पिता के पश्चात् वे राज्य के उत्तराधिकारी हुए और पिता के सदृश ही धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। वे इतने धर्मात्मा परोपकारी भूपति थे, कि पर पीड़ा को सहन नहीं कर सकते थे। उनकी शरण में कैसा भी कोई आ जाता उसी की रक्षा करते। उनकी शरणागतवत्सलता की प्रशंसा तीनों लोकों में छा गई। इन्द्र को बड़ा डाह हुआ, कि पृथ्वी में रहने वाले एक मर्त्यधर्मा राजा की कीर्ति मुझसे भी बढ़ गई है। उसकी शुभ्र कीर्ति से यह त्रिभुवन भर गया है। किन्तु करते क्या जितना पुण्यकार्य परोपकार इस मनुष्य शरीर से हो सकता है, उतना देव शरीर से तो होना संभव ही नहीं। परोपकार के कारण महाराज शिवि की कीर्ति दिग्दिगन्तों में छा गई।

एक दिन की बात है, कि महाराज अपनी राजसभा में बैठे थे। इतने में ही एक भयभीत कपोत बड़े वेग से उड़ता हुआ आकर महाराज शिवि की गोद में छिप गया। सहसा एक दुखित पक्षी को स्वतः ही अपनी गोद में बैठा देखकर राजा के हृदय में बड़ी करुणा आ गई। प्यार से उन्होंने उसके सिर पर हाथ फेरा, उसे निर्भय करने की चेष्टा करने लगे। उसी समय राजपुरोहित ने कहा—"महाराज! यह कबूतर आपकी शरण में आया है, आप

शरणागत वत्सल हैं, इसकी रक्षा तो आप करेंगे ही, किन्तु इस प्रकार सहसा कबूतर का गिरना भावी अनिष्ट का सूचक है, अतः आप इस अनिष्ट की शान्ति के लिये कुछ दान धर्म करावें। इतने में ही राजा के पास एक बाज आकर बैठ गया। बाज को देखकर काँपते हुए कबूतर ने कहा—"प्रभो ! यह बाज मुझे मार डालेगा, अतः मैं आपकी शरण हूँ आप मेरी रक्षा करें।"

एक कबूतर के मुख से इतनां स्पष्ट मनुष्य वाणी सुनकर महाराज शिवि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बोले—"हे पक्षी ! तुम पक्षी होकर ऐसी स्पष्ट मधुर मनुष्य वाणी कैसे बोल रहे हो ?"

यह सुनकर कबूतर ने कहा—"राजन् ! वास्तव में मैं पक्षी नहीं। मैं इच्छानुरूप रूप बनाने वाला एक जितेन्द्रिय वेदज्ञ ब्रह्मचारी हूँ। मैंने वेदों का विधिवत् अध्ययन किया है। मैं धर्म के मर्म को जानने वाला वेदपाठी विशुद्ध ब्राह्मण हूँ। इस बाज के भय से भयभीत हुआ, मैं आपकी शरण में आया हूँ। सुना है, आप बड़े शरणागतवत्सल हैं, मेरी इस बाज से रक्षा कीजिये। यदि मेरी आपने रक्षा न की, तो आपको पाप लगेगा।"

कबूतर की ऐसी बात सुनकर बाज बोला—"महाराज, आप धर्मात्मा हैं, संसार में सबसे बड़ा पाप है किसी की जीविका का अपहरण कर लेना। ब्रह्माजी ने मेरी यही जीविका बना दी है। मैं बहुत भूखा हूँ। जैसे तैसे तो मुझे यह कपोत मिला है, मैं इसे मारकर अपनी बुभुक्षा शान्त करना ही चाहता था, कि आपने इसे अपनी गोद में छिपा लिया। आप इसे न देंगे, तो आपको भूखे प्राणी की जीविका अपहरण करने का पाप लगेगा।"

बाज की ऐसी गूढ़ ज्ञानयुक्त बात सुनकर महाराज शिवि धर्म संकट में पड़ गये। उन्होंने बड़ी विनय के साथ बाज से कहा—"हे पक्षी ! देखो, तुम मेरी बात सुनो। तुम्हें तो पेट भरने

से काम है, मैं तुम्हारा जिसके मांस से कहो पेट भर दूँगा। तुम कहो तो जीवन भर मैं तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध कर दूँगा, किन्तु इस कबूतर को मुझसे मत माँगो। इसे मैं दे दूँगा तो संसार में सर्वत्र मेरा अपयश फैल जायगा, सभी कहेंगे, यह राजा झूठा है। यह शरण में आये प्राणियों की रक्षा नहीं कर सकता। तुम मेरे ऊपर कृपा करके ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे तुम्हारा काम भी हो जाय, मेरी अपकीर्ति भी न हो। जितना कहो उतना मैं मांस मँगा दूँ।"

बाज ने दृढ़ता के साथ कहा—"देखिये महाराज! न तो और किसी का मांस चाहिये। न कबूतर के मांस से अधिक ही मांस चाहिये। मैं जब अपने पुरुषार्थ से पैदा करता हूँ, दूसरों के सम्मुख दीन होकर याचना क्यों करूँ।"

राजा ने सरलता के साथ कहा—"हे खग! तुम दीन कहाँ हो रहे हो, दीनता तो मैं दिखा रहा हूँ। तुम याचना नहीं कर रहे हो, मैं ही उलटा तुमसे भीख माँग रहा हूँ, तुम कबूतर के मांस से अधिक लेना नहीं चाहते, तो इसी के बराबर जिसका मांस चाहो मुझसे तोलकर लो। ऐसा काम करो भैया, कि मेरी कीर्ति नष्ट न होने पावे। लोग मेरी निन्दा न करें।"

राजा की ऐसी बात सुनकर बाज गम्भीर हो गया और बोला—"महाराज! यदि आप इस कबूतर की बराबर मुझे किसी का मांस देना ही चाहते हैं, तो स्वयं अपने हाथ से काटकर अपनी जाँघ का मांस इस कपोत की बराबर दे दें। इससे आप की कीर्ति भी बढ़ेगी, नाम भी होगा और मेरा भी काम बन जायगा।"

बाज की ऐसी बात सुनकर महाराज शिवि अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने एक तराजू लेकर एक ओर तो कबूतर को रखा और दूसरी ओर अपनी जाँघ से स्वयं मांस काट-काटकर तराजू

के पलड़े में रखने लगे। महाराज ने देखा कबूतर का पलड़ा उठता ही नहीं, कितना भी वे मांस काट-काटकर रखते हैं किन्तु उस कपोत के बराबर नहीं होता। जब उन्होंने देखा कबूतर का पलड़ा भारी है, तो वे स्वयं तराजू के पलड़े पर बैठ गये। महाराज की ऐसी परोपकार में निष्ठा देखकर सभी धन्य-धन्य करने लगे। स्वर्ग से देवताओं ने दुन्दुभी बजाई, नन्दनवन के दिव्य पुष्पों की उनके ऊपर वृष्टि की, इतने में ही बाज अन्तर्धान हो गया।

राजा शिवि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बाज और कबूतर दोनों को मानवी भाषा बोलते देखकर ही चकित हो गये थे, इस घटना से तो वे और भी आश्चर्य में भर गये। उन्होंने बड़े स्नेह के साथ कबूतर से पूछा—"हे पक्षिश्रेष्ठ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं? आप दोनों साधारण पक्षी तो हैं नहीं। यह बात आप दोनों के सम्वाद से ही स्पष्ट हो जाती है।"

यह सुनकर कबूतर बोला—"महाराज! आपका अनुमान असत्य नहीं है। मैं साक्षात् धूमकेतु देवताओं को हवि पहुँचाने वाला अग्नि हूँ। बाज रूप धारण करने वाले ये स्वर्गाधिप देवेन्द्र शतक्रतु हैं। हम दोनों आपकी परोपकार निष्ठा और शरणागत वत्सलता की परीक्षा करने के निमित्त ही कबूतर और बाज का रूप रखकर आये थे। राजन्! आपने अपने प्राणों को भी देकर शरण में आये हुए कबूतर की रक्षा की, अतः मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ, कि संसार में आपकी सदा अक्षुण्णकीर्ति बनी रहेगी। आप दानियों में सर्वश्रेष्ठ समझे जायँगे और जिस जङ्घा से आपने अपना मांस काटा है वह ज्यों की त्यों होकर सुवर्ण वर्ण की बन जायगी, इस प्रकार आपकी दिगन्तव्यापी कीर्ति का सदा के लिये चिन्ह शेष रह जायगा।"

श्री सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं— "मुनियो!

इतना कहकर अग्निदेव भी वहीं अन्तर्धान हो गये। सो, दधीचि मुनि की शरण में आये हुए देवता भी उन्हीं शिवि का उदाहरण देकर मुनि से अस्थि देने के लिये आग्रह करने लगे।"

छप्पय

इन्द्र बने वर बाज कबूतर अनल बनाये।
दोनों झगड़त परम यशस्वी शिव ढिँग आये॥
अति ई दुखी कपोत कहे प्रभु रक्षा कीजे।
बाज भूख तें दुखित कहे भोजन मम दीजे॥
शरणागत की देह दे, पीड़ा भूपति ने हरी।
मांस दयो निज देह को, रक्षा शिवि वाकी करी॥
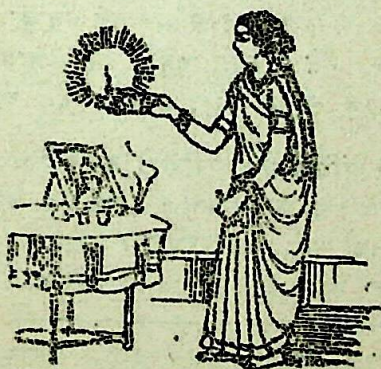
पर दुख से दुखी होना ही जीवन है

(४०१)

ननु स्वार्थपरो लोको न वेद परसंकटम् ।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १० अ० ६ श्लो०)

छप्पय

सब स्वारथ के मीत न देखे परहित कोई ।
होवे मेरो लाभ हानि भल औरनि होई ॥
पर उपकारी सदा दुःख औरनि को लेवें ।
दुखियन के हित विहँसि प्रान तन धन कूँ देवें ॥
यह कारज मैंने कियो, नहीं करें अभिमान वे ।
उनको सहज स्वभाव यह, दोष न देवें ध्यान वे ॥

हम सबसे अधिक स्नेह शरीर से करते हैं । शरीर की रक्षा और सुख के लिये ही हमारे सब व्यापार हैं । घर बनाते हैं, तो इसीलिये कि वर्षा जाड़े तथा गरमी से शरीर की रक्षा हो सके, शरीर सुखी रहे, उसे कष्ट न हो । सवारी, वाहन आदि इसी

---

* देवतागण दधीचि मुनि से कह रहे हैं—"ब्रह्मन् ! यह संसार तो स्वार्थी है, यह दूसरों के संकट को नहीं पहिचानता कि अपनी प्रिय वस्तु देने में कितना कष्ट होगा । और यदि दूसरे के कष्ट को लोग पहिचानते, तो माँगने वाला दूसरों से माँगता ही क्यों ? और समर्थ होने पर माँगने वाले से कोई विषेध ही क्यों करता ?"

लिये रखते हैं, कि शरीर को श्रम न हो। विवाह इसीलिये करते हैं, शारीरिक सुख प्राप्त हो, मन में अशान्ति न हो, जीवन सुविधानुसार बीते। सुयोग्य सुत इसीलिये चाहते हैं, कि वह वृद्धावस्था में हमें सुख पहुँचावे। पाप करके शरीर का पोषण करना अन्याय है। अधम पुरुष ऐसा ही करते हैं। वे अपने शरीर को पुष्ट करने के लिये हजारों लाखों प्राणियों की हिंसा करते हैं, मछलियों को मारकर खा जाते हैं, बहुत पशु पक्षियों को खाते हैं, गरीबों का रक्तशोषण करके धन एकत्र करते हैं। कुछ लोग धर्म से धन उपार्जन करके भरसक पर पीड़ा से बचकर शुद्ध आजीविका द्वारा धन पैदा करके अपना तथा अपने परिवार वालों का पालन करते हैं। वे धर्मात्मा पुरुष हैं, वे सच्चे पुरुष हैं। किन्तु जो पर उपकार के लिये अपने शरीर को भी अर्पण कर देते हैं, वे मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ऊँचे हैं, देवताओं से भी बढ़कर हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दधीचि मुनि के समीप जाकर देवता परोपकार को भाँति-भाँति से अनेकों आख्यान और इतिहास सुनाकर प्रशंसा करने लगे। देवताओं ने कहा—ब्रह्मन्! संसार में सबसे बुरा कार्य है, याचना। सबसे बुरा व्यक्ति है याचक। याचक से सभी घृणा करते हैं। जैसे हमसे कोई हमारी प्यारी वस्तु माँगे, तो हमें माँगने वाला बुरा लगता है, इसी प्रकार सर्वसाधारण लोगों को याचक उद्वेग पैदा करने वाला है। याचक सबकी ओर आशा भरी दृष्टि से देखता है, किन्तु उसे सामने रहते हुये भी लोग नहीं देखते। वह दीन वाणी से बार-बार बोलता है, किन्तु कान रहते हुये भी लोग सुनते नहीं क्योंकि याचक अपने स्वार्थ के लिये माँगता है। वह दूसरों के सङ्कट को समझता नहीं, कि पैसा कितने परिश्रम से पैदा किया जाता है और फिर कैसे भी पैसा पास में आ जाय उससे

कितना ममत्व हो जाता है। प्राणों से भी प्यारा लगता है। उसी इतनी प्यारी वस्तु को वही माँग सकता है, जो घोर स्वार्थी है, जिसे दूसरे के दुःख का अनुभव न हो। उस याचक से भी अधिक स्वार्थी वह पुरुष है, जो सामर्थ्य रहते हुए भी माँगने वाले को मना कर दे। याचक को निराश लौटाना, सामर्थ्य रहते हुए भी उनकी याचना को विफल बना देना यह घोर पाप है। ब्रह्मन्! इस नश्वर शरीर का होना ही क्या है। एक दिन तो इसका अंत होगा ही। यदि वह उपकार में लग जाय, तो इससे श्रेष्ठ इसका क्या सदुपयोग होगा। देखिये, सभी की देह का कुछ न कुछ उपयोग है। वृक्ष जीवन भर फल देकर परोपकार करते रहते हैं। स्वयं गंदी खाद खाकर मधुर फल दिया करते हैं। मरने पर उनकी सूखी लकड़ी से भाँति-भाँति की वस्तुयें बनती हैं, भोजन बनाने में काम आती हैं। गाय भैंस घास खाकर मीठा-मीठा अमृतोपम दुग्ध देती हैं। मरने पर उनकी अस्थियाँ, चर्म, सींग, मांस सभी काम में आते हैं। हरिन की खाल की मृग छालायें बनाई जाती हैं, सिंह की खाल के बाघम्बर बनते हैं, जिनका राजर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि तक उपयोग करते हैं। भेड़, बकरी की ऊन से वस्त्र बनते हैं। मरने पर उनकी खाल की विविध वस्तुएँ बनती हैं, लोगों के कामों में आती हैं। पानी भरने के पात्र बनते हैं। सभी की देह का कुछ न कुछ उपयोग है, किन्तु यह एक मनुष्य ही ऐसा जन्तु है, कि मरने पर इसकी देह का कोई उपयोग नहीं। यदि मरा हुआ पड़ा रह जाय, तो कीड़े पड़ जायँ, दुर्गन्धि आ जाय, वायु मण्डल को दूषित कर दे। जलादें, तो राख हो जाय, पृथ्वी में गाड़ दें तो मिट्टी हो जाय। जंगल में फेंक दें तो सियार, कुत्ता, चील्ह, कौए आदि खाते तो हैं, किन्तु जो स्वार्थी है लोभी है, केवल पेट को ही जीवन भर पालता रहा है उसके मांस को बुद्धिमान गीदड़ भी नहीं खाते। एक गीदड़ी

अपने बच्चे को उपदेश दे रही थी—"देख बेटा! वहाँ एक अत्यन्त ही स्वार्थी, कृपण पेट पोषक व्यक्ति का शव पड़ा है, उस का मांस तुम कभी भूलकर भी मत खाना।"

ब्रह्मन्! इस नश्वर शरीर से यदि किसी का भला हो जाय, तो इस अधम शरीर की सच्ची सार्थकता ही हो जाय। देखिये, महाराज बलि ने अपने प्राण देकर भी याचक की याचना को पूर्ण किया। महाराज मोरध्वज से याचक वेष बनाये साक्षात् भगवान् ने अपने सिंह के लिये उनके पुत्र का मांस माँगा था और यह आग्रह किया था कि राजा रानी स्वयं आरा लेकर चीरें, सो राजा ने ऐसा ही किया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजा मोरध्वज ने अपने पुत्र को क्यों और किस प्रकार अथिति को दिया, इस आख्यान को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"ब्रह्मन्! यह इतिहास तो बहुत बड़ा है। मैं संक्षेप में आपको सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

एक बार नर ने श्रीनारायण से पूछा—"प्रभो! पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ परोपकारी शरणागत वत्सल आतिथ्य सत्कार करने वाला कौन पुरुष है?"

इस पर नारायण ने कहा—"भैया! इस समय मोरध्वज के सामान शरणागतवत्सल और परोपकारी दूसरा व्यक्ति दिखाई नहीं देता।"

इस पर नर ने कहा—"भगवन्! मैं उन राजर्षि मोरध्वज का महत्व जानना चाहता हूँ।"

अपने भाई की ऐसी बात सुनकर श्रीनारायण ने अपने भाई नर को तो सिंह बनाया। और स्वयं साधु का वेष बनाकर राजा मोरध्वज के महलों में पहुँचे। राजा ने महात्मा का हृदय से

स्वागत सत्कार किया, उनकी विधिवत् पूजा की और भोजनों के लिये प्रार्थना की।"

इस पर साधु वेषधारी भगवान् बोले—"राजन्! मैं कई दिनों का भूखा हूँ, भूख के कारण मैं अत्यन्त दुखी हूँ, किन्तु जब तक यह मेरा सिंह कुछ न खा लेगा तब तक मैं भी कुछ नहीं खा सकता।"

राजा ने विनय के साथ कहा—"ब्रह्मन्! आप आज्ञा करें आपका सिंह क्या खायगा। वह जो भी खायगा उसी का मैं तत्क्षण प्रबन्ध करूँगा। आप अपने मन में किसी प्रकार की शंका न करें।"

इस पर साधु वेषधारी श्री नारायण बोले—"राजन्! यह सिंह नर मांस भोजी है। यदि कोई शुद्ध राजवंश का पुरुष मिले तो यह खायगा, पर इसका नियम है आधे पुरुष को खाता है।"

राजा ने दृढ़ता के साथ कहा—"भगवन्! आपका सिंह मुझे खाय, मैं स्वयं इसके लिये उपस्थित हूँ।"

साधु ने गम्भीर होकर कहा—"राजन! आप मूर्धाभिषिक्त हैं प्रजा पालक हैं। आपको मेरा सिंह न खायगा। हाँ यदि आपका राजपुत्र श्रद्धा सहित प्रसन्नता पूर्वक अपना शरीर अर्पण कर दे और आप राजा रानी दोनों आरे से उसके शरीर के दो टुकड़े कर दें तो वह दाहिने टुकड़े को खाकर सन्तुष्ट होगा, जब यह सन्तुष्ट हो जायगा तब मैं भोजन करूँगा। अन्यथा मैं भी भूखा ही रह जाऊँगा।"

राजा ने अत्यन्त विनीत भाव से उल्लास के साथ कहा—"ब्रह्मन्! मेरे द्वार से आज तक कभी याचक विफल मनोरथ होकर नहीं गया है। मेरे राजकुमार का यह परम सौभाग्य है

कि उसका शरीर साधु सेवा में काम आवे। मैं अभी उसे बुला कर पूछता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा ने तुरन्त राजकुमार को बुलाया। वह तो यह सुनकर फूला नहीं समाया। उसने कहा—"पिताजी! यह तो मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो मेरा शरीर परोपकार के कार्य में लगे। आप मेरे शरीर से अवश्य ही सिंह को सन्तुष्ट कर दीजिये।"

कुमार की यह बात सुनकर एक ओर राजा खड़े हो गये दूसरी ओर उनकी रानी। दोनों आरा लेकर अपने पुत्र के शरीर को चीरने लगे। चीरते-चीरते जब आरा आँख के समीप आया तो बच्चे की बाईं आँख से आँसू निकल पड़े। तब साधु बिगड़ गये और बोले—"अब कुमार के अंग को मेरा सिंह न खायगा क्योंकि कुमार रोकर अश्रद्धा से अपना शरीर दे रहा है।"

इस पर अधीर होकर राजा ने कहा—"नहीं भगवन्! कुमार की बाईं आँख से इसलिये आँसू निकल पड़े कि बायाँ अंग कहता है हम ऐसे अभागी हैं कि हमारा परोपकार में कुछ भी भाग न रहा। सिंह तो कुमार के दायें अंग को ही खायेगा। अतः दायाँ अंग प्रसन्न हो रहा है। बायाँ अंग अपने इस दुर्भाग्य पर रुदन कर रहा है।"

इस बात को सुनकर साधु सन्तुष्ट हुए। दायें अंग को चीर कर सिंह के आगे डाला गया। सिंह उसे खा गया, अब साधु ने कहा—" रानी स्वयं रसोई बनावे तो मैं खाऊँ।" यह सुनकर रानी बिना दुखित हुए गई, उसने बड़ी श्रद्धा से रसोई बनाई। रसोई बनाकर साधु को परसी, अब साधु पुनः अड़ गये। बोले—"तुम अपने बच्चे को बुलाओ, तो मैं उसके साथ भोजन करूँगा।"

राजा ने अधीर होकर कहा—"प्रभो ! बच्चा अब कहाँ है । उसे तो आपके सामने हमने चीरकर सिंह को खिला दिया ।"

साधु हठी ठहरे बोले—"नहीं, उसे प्रेमपूर्वक बुलाओ ।"

राजा क्या करते वे उसे पुकारने लगे । इतने में ही भीतर से हँसता हुआ कुमार निकल आया । राजा रानी दोनों प्रसन्न हुए । भगवान् ने अपने यथार्थ रूप में उन दोनों को दर्शन दिये ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार देवताओं ने परोपकार के अनेकों इतिहास सुनाये । सक्तु मुनि का दृष्टान्त दिया जिन्होंने अपने घर भर के सत्तुओं को खिलाकर स्वयं भूखों रह कर आगन्तुक अतिथि का सत्कार किया । महाराज रन्तिदेव का चरित्र सुनाया जो ४९ दिनों के पश्चात् प्राप्त हलुआ खीरि आदि को अतिथियों को देकर भी स्वयं बिना जल पिये ही संन्तुष्ट हुए और कहा था—"मैं अपने लिये स्वर्ग मोक्ष सुख कुछ भी नहीं चाहता । मेरे द्वारा दीन दुखियों का उपकार हो, मेरा शरीर परोपकार में लगे, यही मेरी अभिलाषा है । सो ब्रह्मन् ! आपकी हड्डियों से देवताओं का भला होगा ऐसा भगवान् ने कहा है । यदि आप उचित समझें तो हमें अपनी अस्थियों को दे दें ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! देवताओं की बात सुनकर महर्षि दधीचि हँसे और उन्हें उत्तर देने को प्रस्तुत हुए ।"

छप्पय

हाड़ मांस के बने देह में ममता सबकूँ ।
चाहें सब हों दुखी सदा सुख होवे हमकूँ ॥
परउपकारी त्यागि देहिँ सरबसु की ममता ।
देहिँ देह को दान रखें सबई महँ समता ॥
मोरध्वज ने सही सब, साधु सिंह हित सुत व्यथा ।
हैं अब तक जगमहँ विदित, शिवि दधीचि बलिकी कथा ॥

—०—

दधीचि मुनि का उत्तर

(४०२)

धर्मं वः श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृताः ।
एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं संत्यजाम्यहम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ७ श्लो०)

छप्पय

हँसि दधीचि मुनि कहें धर्म को मर्म जतायो ।
ताही तें अस व्यंग देवगन वचन सुनायो ॥
विषयनि तें नहिं मोह नहीं है ममता तनकी ।
लगी रहे नित वृत्ति ब्रह्ममहँ मेरे मनकी ॥
इक दिन छूटे अर्वास ई, नाशवान् यह है अनित ।
क्यौं न तजूं फिरि स्वतः ई, तन तुम्हरे हितके निमित ॥

जब बच्चे आकर हमसे कोई सच्ची बात भी कहते हैं, तो उनके बुद्धि कौशल को देखने के निमित्त हम सत्य बात में भी तर्क करते हैं, कुछ प्रसंग चले, कुछ इस सम्बन्ध की प्यारी-प्यारी बातें हों। स्नेहियों के साथ घुल मिलकर बातें करने में बड़ा सुख होता है। रस का संचार दो रसिकों के शारीरिक या मानसिक मिलन

---

* महामुनि दधीचि देवताओं से कह रहे हैं—"देवताओ ! आप लोगों के प्रति यह बात मैंने धर्म सुनने की इच्छा से कह दीं थी। यह मेरा शरीर एक दिन तो अवश्य छूटेगा अतः इसे परोपकार के निमित्त आज ही छोड़ देता हूं।".

से या हृदय तथा शरीर के स्पर्श से अथवा तद् सम्बन्धी कथा वार्ताओं से होता है। रसिक लोग इनके लिये सदा लालायित रहते हैं। वे इनके लिये एकान्त अवसर ढूँढ़ते रहते हैं। हृदयगत भाव और भजन के लिये एकान्त परम आवश्यक है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं ने महामुनि दधीचि से उनकी अस्थियों को माँगा, तो ऊपरी मन से आश्चर्य प्रकट करते हुए मुनि ने कहा—"अरे! तुम लोग कैसी भूली-भूली-सी बातें करते हो। कहीं जीवित शरीर भी स्वेच्छा से दिया जाता है।" इस पर देवताओं ने धर्म के मर्म को, परोपकार के महत्व को, त्याग की महानता को बताते हुये बहुत से धार्मिक पुरुषों का दृष्टान्त दिया, जिन्होंने धर्म की बलि वेदी पर अपने सर्वस्व को यहाँ तक कि प्राणों को भी हँसते-हँसते उत्सर्ग कर दिया था। इन बातों को सुनकर दधीचि मुनि हँस पड़े और अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"देवताओ! तुम कुछ और मत समझना।"

इन्द्र ने व्यग्रता के साथ कहा—"भगवन्! और कुछ समझने की तो बात ही है। हम कितनी आशायें लेकर स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण की आज्ञा से आपकी सेवा में उपस्थित हुए थे। हमें आशा थी, आप हमारे मनोरथ को विफल न बनावेंगे, सो आपने आते ही कह दिया, कि चाहें विष्णु भगवान् ही क्यों न माँगे कोई अपने जीवित शरीर को नहीं दे सकता। इसी से हम बड़े निराश हो गये हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए दधीचि मुनि बोले—"अरे, भैया! यह बात तो मैंने वैसे ही हँसी में तुमसे कह दी थी। इसी बहाने तुम्हारे मुख से मैंने धर्म की मधुर-मधुर बातें सुन लीं। मुझे इस नाशवान् अनित्य शरीर का मोह थोड़े ही है। मोह उस वस्तु से करना तो उचित है, जो नित्य हो शाश्वत हो। यह देह

अनित्य है, क्षण भंगुर है, नाशवान् है, एक न एक दिन अवश्य ही नाश हो जायगी। जब इसे अपने आप नाश होना ही है तो इसे परोपकार में क्यों न लगा दें। यदि इसी अनित्य देह से नित्य वस्तु की प्राप्ति हो जाय, तो ऐसे लाभप्रद व्यापार को कौन नहीं करना चाहेगा ?"

इस पर देवताओं ने कहा—"भगवन् ! ये प्राणी तो अपने-अपने स्वार्थ में निमग्न हैं। परमार्थ आप जैसे किसी महापुरुष को ही सूझता है। हम तो स्वार्थी हैं। अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए ऐसी बातें कह रहे हैं।"

इस पर दधीचि मुनि ने कहा—"भैया ! तुम लोग स्वार्थ से कहो अथवा परमार्थ से। देखो तुम वृक्षों के ही जीवन पर ध्यान दो। सदा सरदी, गरमी और वर्षा में खड़े रहते हैं। गरमी से श्रान्त पथिकों को शीतल छाया देते हैं, उन्हें जो काट लेता है उसके उपयोग में आते हैं। फूलने पर सुगन्ध देते हैं फलने पर फल देते हैं। स्वयं न खाकर दूसरों को खिलाते हैं, वे निरन्तर पुरुषार्थ ही करते रहते हैं। जब स्थावर होकर वे इतना परोपकार करते हैं, तो जो जङ्गम हैं, सब प्राणियों से श्रेष्ठ मनुष्य हैं, यदि वे परोपकार न करें, केवल अपने पेट पालने और शरीर को मोटा बनाने में ही लगे रहें—तो वे स्थावरों से भी अधिक शोचनीय हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि व्यापार तो पशु पक्षी मनुष्य सभी में समान रूप से होते हैं। मनुष्यों में यही एक विशेषता है, वह इस अनित्य शरीर से जीवों पर दया करते हुए धर्म और यश का उपार्जन कर सकता है। जिसने यह सब नहीं किया, अपनी कीर्ति को चिरस्थाई नहीं बनाया वह तो पशुओं के समान है। सब प्राणियों से अधिक निन्दनीय और शोचनीय है। मनुष्य में धर्म ही पशुओं से विशेष है। धर्महीन पुरुष पुच्छ विषाणहीन पशु ही है।"

इस पर देवताओं ने पूछा—"भगवन्! धर्म का मुख्य लक्षण क्या है ?"

यह सुनकर दधीचि मुनि बोले—"धर्म के मुनियों ने अनेक लक्षण बताये हैं। किसी ने श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा को जो प्रिय हो इस प्रकार धर्म के लक्षण बताये हैं। किसी ने अविरोधी भाव को धर्म बताया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तप, दान और तितिक्षा इस प्रकार धर्म के लक्षण बताये हैं। किन्तु मेरे मत में तो पुण्य कीर्तिशाली पुरुषों द्वारा सेवित परम धर्म यही है, दूसरों के दुःख में दुःखी होना और दूसरों के सुख में सुखी होना।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! जब परमार्थ का इतना महत्व है, तो फिर लोग स्वार्थ में इतने संलग्न क्यों रहते हैं ?"

अत्यन्त खेद के स्वर में मुनि ने कहा—"स्वार्थ में कहाँ संलग्न रहते हैं। इन विषयी पुरुषों ने तो स्वार्थ का असली तात्पर्य समझा ही नहीं। देवताओ! यह अत्यन्त दुःख की बात है, बहुत ही कष्ट का विषय है, कि जिन वस्तुओं से कुछ भी स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, उन विषयों में मनुष्य कितना भारी ममत्व रखता है। पहिले धन को ही ले लीजिये। धन आज तक किसी का हुआ है ? आज जिस रुपये को आप अपना कह रहे हैं, कल वही दूसरे के पास चला गया, तो वह उसे अपना कहता है, इस प्रकार कितने लोग धन को मेरा-मेरा कह कर मर गये, किन्तु धन किसी के साथ नहीं गया। वह किसी का भी नहीं हुआ। फिर धन में सुख हो सो भी बात नहीं।

एक बहुत बड़ा धनिक पुरुष था। उसके पास अरबों-खरबों सुवर्ण मुद्रायें थीं। मोती, हीरा, जवाहिरात, अनगिनतिन थीं। एक दिन वह अपने कोषागार में घुसा। वह ऐसा बना था कि भीतर से भी बन्द हो जाता था और बाहर से भी। जिस

समय वह अकेला उसमें घुसा तो उसकी ताली ले जाना भूल गया। घुसकर किवाड़ लगाते ही वह बन्द हो गया। अब तो उसके निकलने का कोई उपाय नहीं। उसी में सड़कर वह मर गया। जब बहुत दिन तक खोज करने पर भी उसका पता न चला, तो राजकर्मचारियों ने आकर उसके कोष के तालों को तोड़ा, उसी धनागार में वह मरा पड़ा था। पास में ही एक पत्र लिखा पड़ा था। उसमें उसने लिखा था—"लोग कहते हैं धन ही सबसे श्रेष्ठ है। मैं कहता हूँ, धन वही श्रेष्ठ है, जिसका उपयोग धर्म में परोपकार में होता हो। जो धन परोपकार में व्यय नहीं होता, धर्म कार्य में जो नहीं लगता वह तो भार स्वरूप है। मेरे समीप असंख्यों सुवर्ण मुद्रायें पड़ी हैं, बहुमूल्य से बहुमूल्य मणि मुक्तायें सम्मुख हैं, किन्तु ये मुझे बचा नहीं सकते। मैं भूखा मर रहा हूँ।" देवताओ! जो पुरुष इन दूसरों के ही भोग्य तथा क्षणभंगुर जन धन और शरीरादि से दूसरों का उपकार नहीं करता, वह जीता हुआ मृतक तुल्य है।"

इस पर देवताओं ने कहा—"तब भगवन्! हम अब क्या आशा रखें?"

इस पर भगवान् दधीचि ने कहा—"अरे, भाई! आशा की क्या बात है। तुम लोग अपने मन की शंका को छोड़ दो। यदि तुम सबका उपकार मेरी हड्डियों से होता हो तो मैं अपने अहोभाग्य समझूँगा। हँसते-हँसते इन हड्डियों को देने के लिए उद्यत हो जाऊँगा।"

देवता तो मुनि की पत्नी गभस्तिनी के भय से भयभीत हो रहे थे, वे सोच रहे थे यदि वह पतिप्राणा सती कहीं आ गई, तो सब गुड़ गोबर हो जायगा, पहिले तो वह अपने पति से ही मना करेगी। यदि पति न माने तो वह अपने सतीत्व के तेज से हम सबको क्रोध भरी दृष्टि से देखकर ही भस्म कर देगी। अतः

जब तक वह सरिता तट से लौटकर नहीं आती तभी तक हमें अस्थियों को लेकर उसका ही वज्र बनाकर चंपत हो जाना चाहिए। मुनि से प्रार्थना करनी चाहिए कि 'शुभस्य शीघ्रम्' जैसे हो तैसे शीघ्र यह कार्य हो जाय।" यही सब सोचकर वे बोले—"तब ब्रह्मन्! देर करने की क्या बात है। आप आज्ञा दीजिए विश्वकर्मा अपना कार्य आरम्भ करें।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह सुनकर महामुनि दधीचि देवताओं के निमित्त प्राण देने को उद्यत हुए। अब मरते समय उन्होंने जो कहा और जैसे इस शरीर का हँसते-हँसते त्याग कर दिया। इस वृत्तान्त को मैं आगे सुनाऊँगा, तुम उसे दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

छप्पय

अहो कष्ट अति घोर करे नर तन महँ ममता।
नहिँ साधे परलोक करे धन माहिँ कृपनता॥
परम धर्म है जिही दुखी पर दुख महँ होनों।
दया धर्म तैं हीन व्यर्थ जीवन को खोनों॥
क्षण भंगुर नित नासयुत, व्यर्थ मोह धन गेह महँ।
क्यों न बितावे समय कूँ, परकारज कूँ हरनि महँ॥

—०—

दधीचि मुनि का शरीर त्याग

(४०३)

एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम् ।
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयञ्जहौ ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १० अ० ११ श्लो०)

छप्पय

सुनि मुनि को उपदेश देवता अति ई हरषें ।
बजें दुंदुभी गगन पुष्प सुर-तरु के बरषें ॥
मुनि पुनि इच्छा करी तीर्थ मैंने नहिँ कीन्हें ।
तुरत तीर्थ तहँ सुरनि बुलाये सब मुनि चीन्हें ॥
न्हाय धोय निश्चिन्त है, सर्व तीर्थ करि भक्ति तें ।
बैठे तनु त्यागन निमित, तप संयम की शक्ति तें ॥

अहा ! उन परोपकारी सन्तों के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जो परोपकार के निमित्त दुष्कर कार्य कर डालते हैं। वास्तव में देखा जाय तो इस देह के साथ किसी का सम्बन्ध ही क्या है। सोना चाँदी पता नहीं किस खानि में कहाँ पैदा हुए, किसने उनको निकाला, कहाँ उनको शुद्ध किया गया, किसने उनकी मुद्रा भाँति-भाँति के आभूषण बनाये। वे प्रथम किसके पास आये घूमते-फिरते कभी प्रवाह में हमारे समीप भी आ गये। हमारी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन अथर्ववेदी दधीचि मुनि ने मन में ऐसा निश्चय करके अपने चित्त को परब्रह्म भगवान् में तल्लीन कर अपनी देह को त्याग दिया।"

देह से भी उनका संसर्ग हो गया। अब तक जिन वस्तुओं को दूसरे लोग मेरी-मेरी कहते थे, अब हम उन्हें अपनी कहने लगे। देह सम्बन्ध से उनमें हमारा ममत्व हो गया। इसी प्रकार माता, पिता, पति, पत्नी, पुत्र, परिवार प्रिय मित्र तथा सगे सम्बन्धियों के सम्बन्ध में है। ये सब हमें देह संसर्ग से प्यारे हैं! हमें सुख देते हैं इसीलिये इनमें प्रियत्व स्थापित कर रखा है। जब शरीर से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं को देने में भी हमें हिचकिचाहट होती है तो फिर शरीर देने की तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। किन्तु जो परोपकार के लिये हँसते-हँसते शरीर को त्याग देते हैं, उनसे बढ़कर संसार में दूसरा कौन होगा। वे भगवान् के अंशावतार हैं, त्याग की मूर्ति हैं, परोपकार की सजीव प्रतिमा हैं और हैं वे नित्य और शाश्वत यशस्वरूप। अतः ऐसे परोपकारी सर्वस्वत्यागी महापुरुषों के पादपद्मों में कोटिशः प्रणाम है।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! जब दधीचि मुनि ने कृपण पुरुषों की बहुत निन्दा की और परोपकार को ही मनुष्य का परमधर्म बताकर स्वयं शरीर देने को उद्यत हुए तब तो देवताओं के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। अब मुनि ने सोचा मेरे मन में कोई वासना शेष तो नहीं है। सोचते-सोचते उनके मन में एक शुभ वासना उत्पन्न हुई और देवताओं ने उसे तुरन्त पूरा किया।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् दधीचि के मन में कौन-सी शुभवासना उत्पन्न हुई और देवताओं ने उसकी किस प्रकार पूर्ति की इस कथा को आप हमें सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो! जब दधीचि मुनि शरीर त्यागने के लिये उद्यत हुए तो उन्होंने देवताओं से कहा—"देव-

ताओ ! मैं जब से उत्पन्न हुआ हूँ तबसे निरन्तर धर्म कर्म और तपस्या में ही निरत रहा हूँ। कभी गङ्गा तट पर कभी सरस्वती तट पर और कभी गोमती तट पर मैं आश्रम बनाकर तप करता रहा हूँ, आज तक मैंने तीर्थ यात्रा नहीं की। साधु को तीर्थ यात्रा अवश्य करनी चाहिये। यदि तुम लोग कहो तो मैं शीघ्र जाकर सब तीर्थों की यात्रा कर आऊँ।"

देवताओं का माथा ठनका। मुनि यदि तीर्थ यात्रा को गये तो न जाने कब तक लौटकर आवें, फिर क्या पता तीर्थों में अनेकों प्रकार के लोगों से भेंट होती है। सभी के भिन्न-भिन्न मत होते हैं। किसी ने मुनि को भड़का दिया कि मनुष्य यदि जीता रहे तो सैकड़ों कल्याणप्रद घटनाओं को अनुभव कर सकता है, आप इन स्वारथी देवताओं के कहने में आकर शरीर का परित्याग क्यों करते हैं, तब तो सब गुड़ गोबर हो जायगा, हम सदा के लिये स्वर्ग से भ्रष्ट हो जायँगे। देवलोक में असुरों का आधिपत्य हो जायगा, इन्द्रासन पर वृत्रासुर बैठ जायगा, अब तो मुनि अनुकूल हैं, शरीर देने को उद्यत हैं, बुद्धिमान पुरुषों को अवसर से न चूकना चाहिये। यही सब सोच समझकर देवताओं की ओर से इन्द्र बोले—"ब्रह्मन् ! आप जैसे संत तो स्वयं साक्षात् तीर्थ रूप ही हैं, आपको तीर्थों की क्या अपेक्षा, साधु संत तो तीर्थों को पावन बनाने के निमित्त तीर्थों में जाते हैं। संतों के संसर्ग में मलिन हुए तीर्थ पावन बन जाते हैं। अतः आपके लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है।"

मुनि ने कहा—"नहीं, कर्त्तव्य तो हमें कुछ भी शेष नहीं, जिसका क्षण भर भी चित्त भगवान् के चरणारविन्दों में लग गया उसने मानों समस्त तीर्थों में स्नान कर लिया फिर भी एक वासना बनी ही हुई है शुभ वासना है, इसकी पूर्ति कर ही लेनी चाहिये।"

इस पर देवताओं ने कहा—"अच्छी बात है, तो भगवन् ! अब आप कहाँ जायँगे। आपकी आज्ञा हो तो हम यहीं समस्त तीर्थों को बुलाये देते हैं।"

यह सुनकर कुछ देर सोचकर मुनि बोले—"अच्छी बात है यहीं सबको बुला लो। मेरा घूमने फिरने का परिश्रम बच जायगा।"

यह सुनकर देवताओं को बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके लिये यह क्या बड़ी बात थी। तीर्थ तो सब उनके अधीन ही थे। सभी तीर्थों का देवताओं ने यहीं नैमिषारण्य में आह्वान किया, देवताओं के आह्वान से सभी तीर्थ तुरन्त वहाँ दिव्य रूप रखकर पहुँच गये। मुनि जिस तीर्थ का भी नाम लेते वही मूर्तिमान होकर प्रकट होते, मुनि उसमें स्नान करते। सब तीर्थों को बुलाते-बुलाते जब मुनि ने तीर्थराज प्रयाग को बुलाया तो प्रयाग उपस्थित नहीं हुए। इस पर मुनि ने देवताओं से पूछा—"देवताओ ! प्रयागराज क्यों नहीं आये ?"

इस पर घबड़ाये हुए हाथ जोड़कर देवता बोले—"भगवन् ! आप श्रेष्ठ हैं तपस्वी हैं। भगवत् स्वरूप हैं। आप ही मर्यादा का पालन न करेंगे तो संसार में और कौन करेगा ? प्रयागराज समस्त तीर्थों के राजा हैं इसलिये वे प्रयागराज कहलाते हैं, वे साधारण तीर्थों की भाँति बुलाने से नहीं आ सकते। वे सबसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ और सम्माननीय हैं।"

इस पर मुनि बोले—"तब मैं प्रयाग स्नान कैसे करूँ ?"

यह सुनकर देवताओं ने शीघ्रता के साथ कहा—"ब्रह्मन् ! आप एक प्रयाग कहते हैं उत्तराखण्ड में लाखों प्रयाग हैं। जहाँ भी दो पवित्र नदियों का संगम हो जाय वही प्रयाग कहलाता है। उत्तराखण्ड के समस्त प्रयागों में पंच प्रयाग सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके नाम देवविष्णु-प्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, रुद्रप्रयाग

और देवप्रयाग हैं आप इन पाँचों में स्नान करलें। सभी प्रयागों में स्नान करने का फल मिल जायगा।"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है बुलाओ इन पाँचों को ही। मुनि के इतना कहते ही ये पाँचों प्रयाग दौड़े आये। मुनि ने उनमें विधिवत् स्नान किया और देवताओं से बोले—"देवताओ! तुम सब मिलकर मुझे वरदान दो कि ये मेरे बुलाये हुए तीर्थ आज से यहीं एक रूप से निवास करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मुनि के ऐसा कहने पर देवताओं ने हर्ष के साथ कहा—'तथास्तु'। तभी से इस परम पावन पुण्यतम नैमिषारण्य क्षेत्र में सब तीर्थ आकर रहने लगे। महा मुनि दधीचि ने अल्पतीर्थ पुरुषों के ऊपर कृपा करके समस्त तीर्थों को एक स्थान में ही बुला लिया। इसीलिये जो 'लोग नैमिषारण्य की परिक्रमा कर लेते हैं उन्हें समस्त तीर्थों की परिक्रमा करने का फल प्राप्त हो जाता है।"

मुनि तो निश्चिन्त होकर तीर्थों में स्नान कर रहे थे, किन्तु देवताओं को खुटका लगा हुआ था, कि कहीं मुनि पत्नी गभस्तिनी न आ जायँ। अतः बोले—ब्रह्मन्! वज्र बनाने का यही शुभ मुहूर्त है, आप शीघ्रता करें।"

दधीचि मुनि ने कहा—"अच्छी बात है! देखो, मैं समाधि में बैठता हूँ, जब मैं समाधिस्त हो जाऊँ तब तुम मेरे शरीर से हड्डियों को निकालकर इन्द्र के लिये वज्र और अपने-अपने लिये अन्य अस्त्र शस्त्र बना लेना।" इतना कहकर मुनि समाधि में मग्न हो गये।

इन्द्र ने विश्वकर्मा से कहा—"हे शिल्पियों में श्रेष्ठ! सर्वास्त्र मय मुनि की हड्डियों से मेरे लिये अमित तेज वाले वज्र को बना दीजिये।"

इस पर विश्वकर्मा ने कहा—"देवराज! यह ब्राह्मण का

शरीर है। इनकी अस्थियाँ तो सम्पूर्ण अस्त्रों के तेज से युक्त हैं, किन्तु मैं ब्राह्मण के रक्त मांस से आर्द्र शरीर का स्पर्श न

करूँगा। यदि सूखी अस्थियाँ हों तो उनका तो मैं अस्त्र शस्त्र बना सकता हूँ। वैसे शरीर को काटूँगा छाटूँगा नहीं।" तब तक

देवराज ने गौओं को बुलाया और उनसे बोले—"गौओ! हम तुम्हारे मुख को वज्र का बनाये देते हैं। तुम मुनि को चाट-चाट-कर उनकी अस्थियों को सूखी कर दो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवताओं के काम के लिये उनके आदेश से गौओं ने ऐसा ही किया। अपने मुख से चाट कर मुनि की हड्डियों को ही छोड़ दिया। इसलिये गौ का सर्वाङ्ग शुद्ध माना जाता है। यहाँ तक कि गोबर में साक्षात् भगवान् नारायण की पत्नी लक्ष्मीदेवी का वास है, किन्तु उनका मुख पवित्र नहीं माना जाता। इस प्रकार परोपकार के लिये उन तेजस्वी मुनि ने जीते जी अपने प्राण दे दिये। हँसते-हँसते शरीर का त्याग कर दिया। सच है परोपकारियों के लिये कोई भी कार्य दुष्कर नहीं।"

छप्पय

परब्रह्म महँ चित्त लीन कीन्हों मुनि अपनो।
यह सब दृश्य प्रपंच लख्यो सबरो जस सपनो॥
मनकूँ करि एकाग्र तत्वमय दृष्टि करी तब।
संयत कीन्हें प्रान करी बस महँ इन्द्रिय सब॥
सुरनि बुलाईं सुरभि सब, चाटि मांस बिनु तनु कियो।
यों पर कारज के निमित, मुनि ने निज तनु तजि दियो॥

इन्द्र के वज्र का निर्माण और पुनः देवासुर संग्राम

(४०४)

अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा ।
मुनेः शक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वितः ॥
वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत ।
स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १० अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

सूखी हड्डी रहीं तेज युत अतिशय मन हर ।
रच्यो वज्र शुभ दिव्य विश्वकर्मा अति सुन्दर ॥
हरि को प्रविश्यो तेज सुरनि सँग मुदित भये अति ।
ऐरावत पै चढ़े सुशोभित होयँ स्वर्गपति ॥
पर उपकारी कूँ नहीं, तनिकहु तन महँ राग है ।
धनि दधीचि मुनि धन्य तप, धनि धनि उनको त्याग है ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विश्वकर्मा ने मुनि की अस्थियों से वज्र बनाया, उसको लेकर वे ऐरावत नाग पर चढ़े त्रिलोकी को आनन्दित करते हुए अत्यन्त ही शोभा को प्राप्त हुए । उस समय वे भगवान् के तेज से सम्पन्न थे, इसलिये उनका बल बढ़ा हुआ था । सभी देवता उन्हें चारों ओर से घेरे खड़े थे । मुनिजन उनकी स्तुति कर रहे थे ।"

जिस जीवन में द्वन्द नहीं, युद्ध नहीं वह जीवन नहीं। ज्ञानी पुरुष द्वन्दों से रहित हैं, किन्तु वे तो जीवन से रहित जीवन मुक्त हो चुके हैं। पाषाणों में भी द्वन्द नहीं। कहते तो लोग पाषाणों को भी निर्जीव ही हैं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो पाषाणों में भी जीवन है ह्रास है। वे भी घटते हैं बढ़ते हैं, एक से नहीं रहते। एक से रहें कैसे। मन एक सा रहे तो प्राणी भी एक से रहें। मन तो क्षण-क्षण पर बदलता रहता है। इस समय सात्विक है, क्षण भर में राजस हो गया, दूसरे क्षण तामस भाव उठने लगे। अभी किसी को प्यार कर रहे हैं। कुछ काल में उससे घृणा हो गई। जो हमसे पहिले घृणा करता था, उसी से अब प्यार करने लगे। मनुष्य के हृदय में सत् और असत् दोनों वृत्तियों का द्वन्द युद्ध सदा होता रहता है। कभी सद्वृत्तियाँ असद्वृत्तियों को दबा लेती हैं, कभी असद्वृत्तियों पर सद्वृत्तियाँ विजय प्राप्त कर लेती हैं। इसी का नाम देवासुर संग्राम है। देवता और असुर जब तक अपने-अपने पदों पर प्रतिष्ठित हैं, तब तक परस्पर में कभी प्रेम न करेंगे। देवताओं में जब अभिमान बढ़ जाता है, अपने को ही सब कुछ समझने लगते हैं बड़ों का अपमान करते हैं, तो वे भी असुरों के समान राजसी तामसी बन जाते हैं, किन्तु उतने नहीं बन पाते जितने कि असुर हैं। असुर तो जन्म से ही–स्वभाव से ही–राजसी तामसी हैं। अतः देवताओं से क्रूरता में श्रेष्ठ ही रहते हैं। बलवान् रज और तम पर निर्बल रजोगुणी तमोगुणी विजय प्राप्त नहीं कर सकते, अतः असुरों से सुर हार जाते हैं। असुर स्वर्ग पर अधिकार जमाते हैं। ऐश्वर्य भ्रष्ट हो जाने पर देवताओं को चेत होता है, वे श्री हरि की शरण जाते हैं। सर्व समर्थ होने पर भी भगवान् उनके दुःख को स्वयं दूर नहीं करते। त्यागी, विरागी, निर्लोभ, वैष्णव के समीप उन्हें

भेज देते हैं। परोपकारी विष्णु भक्त प्राण देकर अपना मांस चटाकर दुखियों का दुःख दूर करते हैं औरों के सुख के लिये स्वयं दुःख सहन करते हैं। त्यागी महापुरुषों की सहायता से फिर सत्व का उदय होता है। फिर तमोगुण को दबाकर उस पर सत्व विजय प्राप्त करता है, देवता अपने खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करते हैं। यह देवासुर संग्राम सदा से होता रहा है सदा होता रहेगा। स्वर्ग के स्वामी इन्द्र का पद स्थिर नहीं चंचल है, क्योंकि यह कर्म द्वारा प्राप्त है। सौ अश्वमेध करने वाला अथवा उसी कोटि का अन्य पुण्य करने वाला ही इन्द्र पद का अधिकारी होगा। पुण्य पाप दोनों ही कर्मों द्वारा प्राप्त स्थान नाशवान् होते हैं। अविनाशी पद तो सद् असद् के ज्ञान से भगवद्भक्ति से प्राप्त होता है। इसीलिये इन्द्र सदा संशय ग्रस्त रहते हैं। जहाँ किसी को सौ अश्वमेध करते या घोर तप अनुष्ठान करते देखते हैं, वहाँ अनेक रूपों में आकर विघ्न डालते हैं। क्योंकि कर्म द्वारा प्राप्त सुख सातिशय दोष से रहित हो नहीं सकता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान् दधीचि ने स्वेच्छा से बिना आह किये अपने शरीर को देवताओं के हित के लिये त्याग दिया, तो आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई। प्राण त्यागते समय उन्होंने कहा था—"मैं इस अनित्य वस्तु को त्याग कर इसके बदले में नित्य वस्तु प्राप्त कर रहा हूँ। क्षण भंगुर देह को छोड़कर अविनाशी पद प्राप्त कर रहा हूँ। मैं मर नहीं रहा हूँ अमर हो रहा हूँ। जिस जीवन में शरीर का मोह है, वह जीवन मरण के तुल्य है। जो मरण परोपकार के निमित्त है, वह जीवन से भी बढ़कर महान् जीवन है। ऐसा कहकर उन्होंने परमयोग में स्थित होकर अपने प्राणों का स्वेच्छा से परित्याग कर दिया। उन्हें फिर इस शरीर का कुछ भी भान नहीं रहा।

जब केवल तपस्या से पवित्र हुई मुनि की तेजोमयी शुष्क हड्डियाँ हो रह गयीं, तब विश्वकर्मा शिल्पी ने तत्क्षण योग में स्थित होकर उनसे इन्द्र के अमोघ वज्र का निर्माण किया तथा और भी देवताओं के बहुत से अस्त्र-शस्त्र बनाये। अब क्या था अब तो इन्द्र का ठाठ जम गया। वृत्रासुर के मारने का शस्त्र मिल गया। शुद्ध अनुकूल साधन प्राप्त तभी होते हैं, जब भगवान् का तेज—उनकी अहैतुकी—कृपा—सहसा प्राप्त हो जाय। आज इन्द्र भगवान् के तेज से सम्पन्न हो गये। अहङ्कार के कारण जो उनका बल क्षीण हो गया था, वह परोपकारी मुनि की अस्थियों के संसर्ग से तथा भगवत् कृपा से पुनः आ गया, अब वे सबल बन गये। सभी देवता उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये। चार दाँत वाले कैलास शिखर के समान स्वच्छ और विशाल ऐरावत की पीठ पर बैठे हुए इन्द्र इसी प्रकार दिखाई दिये मानों कैलाश में छिपे दैत्यों के संहार के निमित्त उसके विशाल शिखर पर स्वयं साक्षात् भगवान् श्रीमन्नारायण विराजमान हों। बड़े-बड़े ऋषि मुनि सामवेद की सुमधुर छन्दों द्वारा उनकी स्तुति कर रहे थे। इस पर देवताओं को हर्षित करते हुए इन्द्र अमोघ वज्र को हाथ में लेकर असुरों से युद्ध करने चले।

उस समय क्रोध के कारण उनका मुखमंडल अग्नि के समान प्रतीत होता था। वे प्रलय काल में क्रोधित हुए रुद्र के समान वज्र रूप त्रिशूल को लिये हुए उसी प्रकार असुरों के झुण्ड पर झपटे जैसे भगवान् त्रिपुरारी त्रिपुरासुर के तीनों पुरों को नष्ट करने के निमित्त दिव्य रथ पर चढ़कर दौड़े थे। इन्द्र अपने प्रबल पराक्रमी शत्रु वृत्र का संहार करना चाहते थे। अब क्या था दोनों ओर से तुमुल युद्ध की तत्परता के साथ तैयारियाँ होने लगीं। उधर असुरों को साथ लिये हुए मंदराचल पर्वत के समान वृत्रासुर खड़ा था। इधर देवताओं से घिरे हुए देवराज इन्द्र वज्र

को हिला रहे थे, क्रोध से ओठों को काट रहे थे। दोनों ही का यह देवासुर संग्राम प्रथम चतुर्युगी के त्रेता युग के मध्य में नर्मदा नदी के तट पर हुआ था।

असुरों ने देखा जिन देवताओं को हमने पहिले पराजित कर दिया था, वे ही आज फिर इन्द्र को अग्रणी बनाकर हमसे युद्ध करने के लिये उद्यत हैं। इन्द्र का मुखमण्डल कमल के समान खिला हुआ है। एकादश रुद्र अपनी भयङ्कर आँखों को नचाते हुए असुरों की ओर निहार रहे हैं। आठों वसु अपने-अपने अस्त्रों को घुमाते हुए युद्ध कला दिखा रहे हैं। बारह आदित्य अपने तेज के द्वारा रणाङ्गन को तेजोमय बनाये हुए हैं। दोनों अश्विनी कुमार औषधियों को लिये हुए स्वयं युद्ध करने के लिये उत्साह पूर्वक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हुए खड़े हैं। पितृगण एक ओर अपना दल बनाये मारने को उद्यत हैं, उनञ्चास अग्नियाँ अपनी तीक्ष्ण ज्वालाओं से युक्त धूएँ की ध्वजा से शोभित समीप ही असुरों को भस्म करने को समुपस्थित हैं। मरुद्गण, ऋभुनामक यज्ञ के विघ्नों को दूर करने वाले देवता तथा साध्य गण और विश्वेदेवादि के गण इन्द्र को घेरे हुए असुरों के दाँत खट्टे करने के लिये उत्साह प्रदर्शित कर रहे हैं। यह देखकर असुरों को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने इसे अपना घोर अपमान समझा।

वृत्रासुर ने जब सम्मुख ऐरावत पर चढ़े हुए हाथ में वज्र लिये इन्द्र को देखा, तब तो मारे क्रोध के उसकी आँखें लाल-लाल हो गईं। वह भी अपने अस्त्र शस्त्रों को लिये हुए बड़े उत्साह से देवताओं के सम्मुख युद्ध करने के लिये आया। वह सब असुरों का नायक था। उसको चारों ओर से घेर कर रण दुर्मद प्रबल पराक्रमी समर विजयी बड़े-बड़े शूर वीर असुर खड़े थे। जिनमें नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा, ऋषभ, अम्बर, हयग्रीव, शंकुशिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति,

हेति आदि प्रधान प्रधान थे। असुरों का पक्ष लेने के लिये दैत्य दानव, यक्ष राक्षस तथा और भी क्रूर कर्मा उपदेव उपस्थित थे। जो माली, सुमाली आदि राक्षस अजेय समझे जाते थे, वे भी सुवर्ण के अलंकारों से विभूषित होकर बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हुए सेना के अग्रभाग में खड़े थे। ये सबके सब साक्षात् दण्डपाणि यमराज के सदृश दिखाई पड़ते थे, सबमें अमित पराक्रम था। सभी संग्राम के लिये समुत्सुक थे, सभी अत्यन्त मदोन्मत्त होकर उत्साह में भरे हुए युद्ध के लिये उत्सुक थे।

जब दोनों ओर की सेनायें सुसज्जित हो गईं, तब तो समर का बाजा बजने लगा। दोनों ओर से प्रहार होने लगे। सर्वत्र हाहाकार मच गया। मारो काटो, जाने मत देना। देख तू मेरे सामने से बचकर नहीं जा सकता ? मेरे बाणों को सहन कर। मैं खड़ा हूँ, तुम प्रहार करो। इसप्रकार के उत्साह वर्धक शब्द सुनाई देने लगे, खड्ग खड़कने लगे। दोनों ओर से गदायें घुमाई जाने लगीं। परिघ फेंके जाने लगे। जिस प्रकार श्रावण भादों में आकाश से जल की वृष्टि होती है उसी प्रकार बाणों की वृष्टि होने लगी। युद्ध इतना तुमुल हो गया कि यह निर्णय करना कठिन था, कि ये अस्त्र-शस्त्र देवताओं की ओर के हैं या असुरों की ओर के। प्रास, मुदगर, तोमर आदि अस्त्र-शस्त्र चलाये और फेंके जाने लगे। त्रिशूलों से सैनिकों के हृदय वेधे जाने लगे। फरसा और खड्ग से एक दूसरे के सिर धड़ से काटने लगे। शतघ्नियों के गड़गड़ान तड़तड़ान के कारण दशों दिशायें भर गईं। दैत्यों की सेना ने देवताओं को उसी प्रकार ढक लिया जैसे कमल को बेल सरोवर के जल को ढक लेती है, अथवा मेघ माला आकाश के ताराओं को ढक लेती है, अथवा गौओं के खुरों की उड़ी हुई धूलि उस दिशा के वृक्षों को ढक लेती है।

देवता तो सावधान थे। अबकी वे अभिमान के वशीभूत होकर अपने बल से नहीं लड़ रहे थे, उन्हें दैवबल प्राप्त था। श्रीहरि की आज्ञा से उन्हीं का तेज पाकर वे युद्ध कर रहे थे। दधीचि मुनि का तप, तेज, त्याग, प्रभाव और बल उन्हें अस्त्रों के द्वारा प्राप्त था। अतः वे असुरों के इतने प्रबल प्रहार से न तो भयभीत ही हुए और न अपने-अपने स्थानों से तिल भर पीछे ही हटे। वे असुरों की बाणवर्षा को उसी प्रकार अडिग होकर सहते रहे जैसे हिमालय के बड़े-बड़े शिखर घनघोर वर्षा को बिना किसी प्रयास के सहते रहते हैं। असुरों के बाण देवताओं को स्पर्श तक नहीं करते थे, वे देवताओं के अङ्ग में जाकर उसी प्रकार व्यर्थ हो जाते, जैसे कृतघ्नी के साथ किया हुआ उपकार अथवा कृपण के सम्मुख की हुई याचना, अथवा जितेन्द्रिय के सम्मुख किये हुए कामोद्दीपक हाव भाव व्यर्थ हो जाते हैं। असुरों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगादी, समस्त अमोघ समझे जाने वाले अपने अस्त्र-शस्त्रों का उन्होंने प्रयोग कर दिया। किन्तु देवताओं का बाल भी बाँका नहीं हुआ।

अब तो असुरों को संदेह होने लगा। फिर भी वे निराश नहीं हुए। अस्त्र शस्त्रों के समाप्त होने पर वे पर्वतों के शिखरों को, बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़-उखाड़कर देवताओं के ऊपर फेंकने लगे, किन्तु उन सबको देवतागण अपने तीक्ष्ण बाणों से उसी प्रकार काटकर गिरा देते थे, जिस प्रकार बाज आकाश में उड़ते हुए पक्षी को घायल करके नीचे गिरा देता है"।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार जब देवताओं की समस्त सेना को असुरों ने अपने अस्त्र शस्त्रों से अक्षत देखा तथा पर्वत और वृक्षों के प्रहारों को भी व्यर्थ हुआ समझा तब तो असुर गण बड़े घबड़ाये, अब उनका उत्साह ढीला पड़ गया। देवसेना को अनाहत और सकुशल देखकर और स्वयं

देवताओं के अस्त्रशस्त्रों से क्षत विक्षिप्त होकर असुर गण रण छोड़कर भाग खड़े हुए। सुर सेना में सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। असुरों की इस कायरता को देखकर वृत्रासुर दुखी हुआ किन्तु वह अपने स्थान से विचलित नहीं हुआ। सुमेरु पर्वत की शिखर के समान जहाँ का तहाँ ही खड़ा रहा।"

छप्पय

सब सुर शस्त्र सम्हारि समर महँ साजि बजि धाये।
उत तें असुरहुँ अस्त्र शस्त्र लेके चढ़ि आये॥
गदा, परिध, शर शूल लगे बहु अस्त्र चलन तहँ।
रण के बाजे बजे बीर बर लड़ें समरमहँ॥
देवासुर संग्राम अति, भयो भूमि पर भयंकर।
सुर सेना विजयी भई, भगे असुर तजिकें समर॥

भागते हुए असुरों को देखकर वृत्र के वीरोचित उद्गार

[४०५]

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः
प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता ।
लोको यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुम्
को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम् ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

असुरनि भागत देखि वृत्र बोल्यो बर बानी ।
अरे, असुरगन समर त्यागि का मन महँ ठानी ॥
जाओगे भगि कहाँ मृत्यु तो सङ्गइ आवे ।
बिना काल के मृत्यु कहूँ हूँ ढिँग नहिँ आवे ॥
जो जग महँ पैदा भयो, सो निश्चय ई मरेगो ।
तो फिर मरि के वीर वर, क्यौं न अमर यश करेगो ॥

---

* वृत्रासुर भागते हुए असुरों से कह रहा है—"अरे असुरो ! देखो जो भी प्राणी उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, दैव ने उसे निवारण करने का कोई भी उपाय नहीं रचा । जब यही बात है तब उस मृत्यु से इस लोक में यश तथा परलोक में भी सद्गति प्राप्त हो तो ऐसी सुन्दर मृत्यु को कौन सहर्ष स्वीकार न करेगा ?"

जो मनस्वी हैं, भगवद् भक्त हैं, बली तथा सामर्थवान हैं, वे कहीं रहें किसी योनि में क्यों न हों उनकी महत्ता न जायगी। उदारचेता महापुरुष जिस क्षेत्र में भी कार्य करेंगे, वहीं यश प्राप्त करेंगे। हृदय की क्षुद्रता मन की दुर्बलता चाहे जिस पुरुष में हो, वही संसार में अपयश प्राप्त करता है। देवेन्द्र त्रैलोक्य के स्वामी हैं, यज्ञों में वेदज्ञ ब्राह्मण उनका बड़े सत्कार से आवाहन करते हैं और सभी देवताओं से पूर्व वे पूजे जाते हैं, किन्तु जब वे भी अपने पद की रक्षा के निमित्त क्षुद्रता के कार्य करते हैं तो कोई भी उन्हें भला नहीं कहता है, उनकी निन्दा ही होती है, इसी प्रकार असुर योनि होने पर भी जो भगवद् भक्त हैं वे पूजनीय वन्दनीय और स्मरणीय माने जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! असुरों ने सम्पूर्ण बल लगाकर सुरों को पराजित करना चाहा किन्तु असुरों के वे प्रहार उसी प्रकार व्यर्थ हुए जैसे खड्ग का प्रहार दृढ़ पाषाण शिला पर व्यर्थ होता है। अथवा जल में आग्नेय अस्त्र व्यर्थ होते हैं अथवा मदोन्मत्त हाथी में मारे हुए अंकुश व्यर्थ होते हैं अथवा नीच पुरुषों द्वारा दी हुई गाली कहे हुए कुवाच्य महापुरुषों के सम्मुख व्यर्थ होते हैं। आज तो देवता असुरों से बढ़ चढ़कर थे। आज तो उन्हें भगवद् अनुग्रह प्राप्त थी। दधीचि मुनि की तपोमय अस्थियों से बने अस्त्र शस्त्रों के सम्मुख असुरों के साधारण अस्त्र शस्त्र व्यर्थ बन गये। दूसरा कोई उपाय न देखकर अपने सेनापति और स्वामी वृत्र को वहीं रण में खड़ा छोड़कर असुर समर छोड़कर भाग खड़े हुए।

अपने असुर अनुयायियों को युद्ध से भयभीत होकर भागते देखकर अत्यन्त ही ओजस्वी भाषा में गंभीर स्वर से सबको सम्बोधित करते हुए वृत्रासुर बोला। उसने ललकार कर कहा—अरे, ओ विप्रचित्ते। राम राम छिः छिः इतने शूरवीर होकर तुम

गीदड़ों की तरह भाग रहे हो ? भैया नमुचि ! अरे तुम तो सबसे श्रेष्ठ समझे जाते थे। असुर वंश में तुम्हारी शूरवीरता की तो बड़ी ख्याति थी। अजी, पुलोमन् ! तुम इन्द्र के श्वसुर होकर युद्ध से कायरों की तरह भागे जा रहे हो। हे मय ! तुम तो असुरों के विश्वकर्मा हो। तुम तो समस्त माया के अधिपति हो, अपनी करामात दिखाओ। इन देवताओं पर कुछ माया चलाओ। हे शम्बर ! हे अनर्वन् ! तुम इतने बड़े शूरवीर पराक्रमी होकर युद्ध से पीठ देकर डर से भागे जा रहे हो यह तुम्हारे यश के अनुरूप नहीं।"

तुम कह सकते हो—"प्राण सबको प्यारे हैं। जीवित रहने की इच्छा वाले प्राणी के लिये मृत्यु से बढ़कर कोई दुःख नहीं। सो ठीक है, किन्तु तुम बताओ इस संसार में अमर कौन है। जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरेगा ! ब्रह्माजी चाहें कि पैदा होने वाले की मृत्यु न हो तो वे भी इसे रोक नहीं सकते। इन चौदह भुवनों के रचयिता ब्रह्माजी भी अपनी आयु के सौ वर्ष पूरे करके बदल जाते हैं। जब मृत्यु निश्चित ही है, अवश्यं-भावी है, किसी प्रकार उसका प्रतीकार है ही नहीं, तब फिर उससे डरने से लाभ क्या ? तब तो ऐसा अवसर खोजते रहना चाहिये कि एक पन्थ दो काज हो जायँ ऐसी मृत्यु की बाँछा रखनी चाहिये कि जिससे इस लोक में सुयश और परलोक में सद्गति प्राप्त हो। शूरवीर के लिये, युद्ध में बढ़कर सम्मुख लड़कर मरने के अतिरिक्त दूसरी कोई श्रेष्ठ मृत्यु है ही नहीं। नीच पुरुष ही घर में रहकर खाट पर पड़े-पड़े सड़कर मरते हैं। संसार में दो ही मृत्युएँ श्रेष्ठ बताई गई हैं। या तो योग के द्वारा ब्रह्म चिन्तन करते हुए दशमद्वार से शरीर त्याग किया जाय अथवा सम्मुख समर में सेना का अग्रणी बनकर वक्ष-स्थल में शत्रु प्रहार से प्राणों का उत्क्रमण हो। रोग शैया पर

पड़े-पड़े खों-खों करते हुए, घर वालों को दुःख देते हुए, मल-मूत्र से लिपटे हुए परिवार वालों से घिरकर कष्ट से मरना यह सबसे निकृष्ट मृत्यु है। इसीलिये हे असुरो! तुम इन निर्बल देवताओं से डरो मत। मेरे रहते हुए ये तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट न कर सकेंगे। आओ, लौट आओ, साहस को मत-खोओ, समर में शस्त्रों की प्रधानता नहीं होती। साहस ही प्रधान समझा जाता है। जैसे अनेकों बार तुमने देवताओं को परास्त किया है, वैसे ही अब के भी करो। प्राणों के मोह से कायरों की भाँति रण छोड़कर भागना उचित नहीं।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति और बुद्धि लगाकर असुरों को समझाना चाहा किन्तु उनकी वक्तृता का उन सब पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे सब तो देवताओं के दिव्यास्त्रों से इतने अधिक पीड़ित हो गये थे, कि प्राण बचाकर दशों दिशाओं में भागने लगे।

काल ही जय, पराजय, बली अबली होने में प्रधान कारण है। आज का काल देवताओं के अनुकूल था, असुरों के प्रतिकूल था, इसीलिये असुर पराजित होकर भाग खड़े हुए। भागती हुई असुर सेना को देवतागण खदेड़ने लगे। इन्द्र अपने वज्र से भयभीत हुए असुरों का संहार करने लगे। वे रण से भागने वाले दैत्यों के पीछे प्रहार करने लगे।

इन्द्र के इस अधर्माचरण को देखकर दैत्याधिपति वृत्र अत्यन्त ही क्रुद्ध हुआ। वह दाँतों को पीसता हुआ, क्रोध से लाल-लाल आँखें करके मेघ गंभीर वाणी से इन्द्र को डाँटता डपटता हुआ बोला—"अरे निर्लज्ज इन्द्र! तुझे इन भागते हुए वीरों पर प्रहार करने में लज्जा भी नहीं आती। प्रतीत होता है

जैसे माता के पेट से विष्ठा निकलती है, उसी प्रकार तू माता के उदर का मल है शुक्र का कीड़ा है। अरे जो स्वयं ही डर कर अस्त्र-शस्त्र छोड़कर रण से भाग रहा है, उस मरे हुए को क्या मारना, वह तो तभी मर गया जब उसने प्राणों के मोह से भाग कर प्राण बचाने की चेष्टा की। ऐसे युद्ध से पराङ्मुख हुए शत्रु सैनिकों को मारना कभी भी प्रशंसनीय और वर्गप्रद नहीं कहा जा सकता। तुम कह सकते हो, शूरवीरों को युद्ध अत्यन्त प्रिय होता है इसलिये जब भी शत्रु से युद्ध का अवसर आ जाय, तभी उससे लड़ना चाहिये। उसे निवल बना देना चाहिए। सो, यह भी तुम्हारी बात ठीक नहीं। धर्मात्मा पुरुषों ने युद्ध के बहुत से नियम बताये हैं उनमें सोये हुओं पर, प्रमत्तों पर, उन्मत्तों पर, स्त्रियों पर, युद्ध से अनभिज्ञों पर, भागते हुओं पर, शरण में आये हुओं पर और वाहन शस्त्र से रहित सैनिकों पर प्रहार करना पाप बताया गया है। तुझमें यदि कुछ साहस है, तो मुझसे आकर लड़। यदि तू मरना चाहता है, विषय भोगों से उपराम हो गया है, तो क्षण भर मेरे सामने ठहर। अधर्म युद्ध करके अपकीर्ति क्यों व्यर्थ में ले रहा है। क्यों नरक के मार्ग को प्रशस्त कर रहा है। मेरा सामना होते ही तू सब अस्त्र-शस्त्रों को भूल जायगा।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! उस महाबली प्रबल पराक्रमी पर्वत के समान डील डौल वाले असुर ने देवराज को अनेकों भांति से डाँटा डपटा और हिमालय के शिखर के समान अपने लम्बे-तगड़े शरीर से देवताओं को भयभीत करता हुआ उनकी ओर भूखे बाघ के समान दौड़ा। वह प्रलय कालीन मेघ के समान भयङ्कर गर्जना कर रहा था। मदोन्मत्त सिंह के समान उसकी भयङ्कर दहाड़ को सुनकर देवताओं के छक्के छूट गये। उसकी दहाड़ से भयभीत होकर बहुत से

देवता संज्ञा शून्य होकर भूमि पर गिर पड़े। अब रोष में भरकर रणरङ्ग दुर्मद वृत्रासुर हाथ में त्रिशूल लेकर इन्द्र की ओर दौड़ा। इन्द्र भी अपने ऐरावत पर सम्हल कर बैठ गये और वज्र को घुमाते हुए वृत्र की ओर बढ़े।"

छप्पय

असुरनि कूँ यों वृत्र धर्मयुत वचन सुनाये।
किन्तु समर तें भगे एक हू नहिँ मन भाये॥
असुर प्राण लै भगे देवता तिन्हें खदेरें।
लड़े भिड़े नहिँ तऊ जाइ सुर पुनि पुनि घेरें॥
वृत्रासुर अन्याय लखि, कहे इन्द्र तें कटु वचन।
अरे अधरमी धर्म तजि, करे काहि यह कपट रन॥

वृत्रासुर और इन्द्र की मुठभेड़

(४०६)

दिष्ट्या भवान्मे समवस्थितो रिपु-
र्यो ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च।
दिष्ट्यानृणोऽद्याहमसत्तम त्वया
मच्छूलनिर्भिन्नदृषद्धृदाचिरात् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ११ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

है पुरुषारथ तेज ओज बल तोमें सुरपति।
तो करि मोतें युद्ध करूँ तेरी अब दुर्गति॥
मेरे सम्मुख आउ समर को मजा चखाऊँ।
अबई तोकूँ मारि मृत्यु के सदन पठाऊँ॥
यों कहि के गर्जन करी, सुनि रव सबरे सुर डरे।
वज्राहत के सरिस है, देव अवनि पर गिर परे॥

---

* सम्मुख आये हुए देवराज इन्द्र से वृत्रासुर कह रहा है—'अहा, बड़े सौभाग्य की बात है जो आज आप मेरे सम्मुख उपस्थित तो हुए? तू मेरे भाई को मारने वाला ब्रह्महत्यारा और गुरु द्रोही है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आज मैं तुझ अपने शत्रु के पाषाण सदृश हृदय को अपने त्रिशूल से विदीर्ण करके भ्रातृऋण से उऋण हो जाऊँगा। हे महानीच! अब तू अधिक जीवित नहीं रह सकेगा।"

धर्मात्मा पुरुष से सभी डरते हैं। प्राण संकट आने पर भी धर्मात्मा सत्य को धर्म को नहीं छोड़ते। यही उनमें विशेषता है इसीलिये वे मरकर भी अमर ही बने रहते हैं। जो प्राणों के,धन के, विषय भोगों के लोभ से सत्य को खो देते हैं, उन्हें चाहे ये वस्तुएँ मिल जायँ, ऊपरी विजय प्राप्त करके वे जीवित रह गये किन्तु उनकी यह विजय पराजय के सदृश है, यह जीवन मरण के तुल्य है। धर्म मय जीवन ही जीवन है। प्रभु के पादपद्मों में प्रेम होना ही सच्चा धन है। भगवान् के दर्शन हो जायँ, यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। चित्त श्रीहरि के चरणारविन्दों में लग जाय यही उसके लिये महान् प्रसन्नता की बात है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब वृत्रासुर ने इन्द्र को इस प्रकार ओजस्वी वाणी में ललकारा तो इन्द्र सम्हलकर वृत्रासुर की ओर बढ़े। अब तो वृत्र के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। वह पंख वाले पहाड़ के समान हाथ में त्रिशूल लेकर आगे बढ़ा। जिस प्रकार क्रोधित हुआ साँड़ आँखें मींचकर प्रहार करता है, उसी प्रकार नेत्र बन्द करके वह सुर सेना में घुस पड़ा, किसी को हाथों से ही पकड़कर मसल देता, किसी को पैरों के नीचे ही दबाकर कुचल देता, किसी को कोहनी से ही रगड़ देता। किसी को पकड़कर निगल जाता, किसी को घुमाकर फल की भाँति दूर फेंक देता। किसी को त्रिशूल से वेधकर आकाश में नचाता। उस वीर के ऐसे कर्म को देखकर देव सेना घबड़ा गई, देवता उसी प्रकार दशों दिशाओं में भागने लगे जैसे भेड़िये को देखकर भेड़ भागती हैं अथवा सिंह को देखकर मृगों के झुण्ड इधर उधर भागने लगते हैं।

इन्द्र ने देखा कि यह असुर तो प्रलयानल के समान मेरी सेना का संहार कर रहा है, यदि यह इसी प्रकार युद्ध करता रहा, तब तो मेरी सेना में एक भी सैनिक शेष न रहेगा। अतः

उस असुर को मारने के लिये ऐरावत पर बैठे ही वैठे इन्द्र ने एक अत्यन्त बलवती कभी व्यर्थ न होने वाली प्रचंड गदा दूर से ही फेंकी। इन्द्र समझते थे, इस अमोघ गदा के लगते ही वृत्रासुर मर जायगा, किन्तु उस दुर्मद असुर ने उस गदा को बायें हाथ से खेल-खेल में उसी प्रकार पकड़ लिया जैसे बच्चे गेहूँ जौ के फूँस को पकड़ लेते हैं।

वृत्रासुर के हाथ में तो त्रिशूल के अतिरिक्त कोई दूसरा अस्त्र शस्त्र था ही नहीं। अब इन्द्र की एक अमोघ गदा उसके हाथ में अपने आप ही सरलता से आ गई, अतः उसने उसी गदा को तानकर वड़े वेग से इन्द्र के ऐरावत हाथी के मस्तक पर सम्पूर्ण बल से मारा। गदा के लगते ही ऐरावत का मस्तक फट गया और वह रक्त उगलता हुआ वहाँ से इन्द्र को लेकर कुछ पीछे हट गया। वृत्रासुर की ऐसी वीरता देखकर सभी उसकी प्रशंसा करने लगे। इन्द्र का उत्साह भङ्ग हो गया, वे किंर्तव्यविमूढ़ से बन गये।

इन्द्र का ऐरावत बुरी तरह से घायल हो गया था, इन्द्र देवेन्द्र भी वृत्र के प्रबल पराक्रम से व्यथित होकर व्याकुल हो गये थे। वृत्रासुर चाहता तो ऐसे अवसर पर इन्द्र पर प्रहार कर के उसे नीचे गिरा सकता था। किन्तु वह धर्मात्मा और भगवत् भक्त था। उस शूर वीर महामना ने ऐसा धर्म विरुद्ध कार्य नहीं किया। असावधान इन्द्र पर उसने पुनः प्रहार नहीं किया। इन्द्र ने जब देखा कि मेरा वाहन वृत्र की गदा से अत्यन्त व्यथित होकर तिलमिला रहा है, उसे असह्य पीड़ा हो रही है, तो इन्द्र ने अपने अमृत स्रावी हस्त से उसके घाव पर हाथ फेरा। अमृत के स्पर्श से ऐरावत का घाव तुरन्त भर गया और वह स्वस्थ हो गया। वाहन के नीरोग और स्वस्थ हो जाने पर इन्द्र भी सम्हल गये, उन्होंने भगवान् के वरदान का स्मरण किया।

वे तुरन्त वीरोचित कर्तव्य को स्मरण करके पुनः रणभूमि में आकर वृत्रासुर के सम्मुख युद्ध करने के लिये उपस्थित हुए और ललकार कर बोले—"अरे, ओ ! अधम असुर तू मेरे वाहन पर प्रहार क्यों करता है, मुझसे युद्ध कर, आज मैं तुझे मारकर अपने गये हुए स्वर्ग के राज्य को पुनः प्राप्त करूँगा।"

इन्द्र की ऐसी वीरतापूर्ण बातें सुनकर वृत्रासुर दशों दिशाओं को अपने अट्टहास से गुँजाता हुआ खिलखिलाकर हँस पड़ा और अत्यन्त क्रोध में भरकर इन्द्र को नोचता और विश्वरूप वध का स्मरण करके, क्रोध से लाल लाल आँखें निकालकर इन्द्र से व्यङ्ग पूर्ण बचनों में कहने लगा

वृत्र ने इन्द्र का परिहास किया और बोला—"धन्यवाद, धन्यवाद। आप युद्ध करने आये हैं। बड़े सौभाग्य की बात है, कि आज आपको भी सूर वीरता सूझी है। अरे, नीच ! तू धर्मात्माओं से युद्ध करने योग्य है ही नहीं। तुझे यदि कुछ भी लज्जा होती तो तू किसी को अपना काला मुख दिखाता ही नहीं, तू सज्जनों के सम्मुख खड़े होने योग्य ही नहीं।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"मैंने तो भाई तेरा कुछ अपराध किया नहीं। असुर मेरे ऐश्वर्य को देखकर ईर्ष्या करते हैं। तू असुर है, अतः उनका पक्ष लेकर व्यर्थ मुझसे युद्ध कर रहा है।

यह सुनकर वृत्रासुर ने कहा—"अरे, अधम ! शरीर को कष्ट देने वाला ही शत्रु नहीं होता। जो शरीर से सम्बन्ध रखने वाले माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र आदि से द्वेष करता है, या धन, घर, भूमि, आदि का अपहरण करता है, वह भी शत्रु ही है। तैंने मेरे बड़े भाई विश्वरूप का वध किया है। अतः तू भ्रातृघ्न मेरा शत्रु है। तू महापापी है, तैंने ब्राह्मण का वध किया है। ब्राह्मण भी साधारण नहीं, जिसे तैंने गुरु मानकर पूजा था, जिसे पुरोहित के सिंहासन पर बिठाया था उसे तूने युद्ध में नहीं

छल से मारा है। तू ब्रह्म हत्यारा है। तेरे ऊपर दया करके पृथ्वी, जल, वृक्ष, और स्त्रियों ने तेरी ब्रह्महत्या बाँट ली। फिर भी मेरे

भाई का मारने वाला तो है ही। आज मैं तेरे पाषाण के समान

कठोर हृदय को अपने तीक्ष्ण त्रिशूल से भेदकर तेरा अंत कर दूँगा। तेरे पापों का तुझे फल चखा दूँगा। जिस प्रकार यज्ञ में स्वर्ग की कामना वाले याज्ञिक बलि पशु का सिर धड़ से काटते हैं। तैंने भी तो ऐसा किया था। मेरे आत्मज्ञानी निर्दोष धर्मज्ञ यज्ञ दीक्षित भाई का तैंने कपट से वध किया था।"

यह सुनकर लज्जित हुए इन्द्र ने कहा—"मैं तीनों लोकों का स्वामी सब समर्थ इन्द्र हूँ, जिसके द्वारा लोक का अपकार हो ऐसे आततायी का मैं चाहे जैसे वध कर सकता हूँ।"

इस पर क्रुद्ध होकर वृत्रासुर ने कहा—"अब तू इन्द्र कहाँ रहा ? अब तो तू अपने पाप से अधम बन चुका। अब तो तुझे ह्री, श्री, दया और कीर्ति आदि छोड़ चुकी हैं, तू अपने कुकर्मों के कारण श्री हीन और लोक निन्दित हो चुका है। धर्मात्माओं की बात तो पृथक् है, क्रूर कर्म, मांसभोजी, यक्ष, राक्षस, भी तेरे इस अत्यन्त गर्ह्य कर्म की किसी ने भी प्रशंसा नहीं की। तेरे पाप का घड़ा भर गया है, अब तेरी दुर्गति होगी, तुझे मारकर मैं फेंक दूँगा, तो तेरी कोई क्रिया भी न करेगा। तुझे गिद्ध, चील्ह सियार खायेंगे। तुझे यह घमंड हो कि ये अग्नि, वरुण, कुबेर मेरे साथ हैं, ये मुझे बचा लेंगे। सो, इन सबको अपने त्रिशूल से काट काटकर भूपति भगवान् रुद्र की बलि चढ़ाऊँगा। पशु की भाँति इन्हें समर यज्ञ में मारकर यमसदन पठाऊँगा।"

वृत्रासुर की ऐसी बातें सुनकर इन्द्र ने गरजकर बड़े उत्साह के साथ उसे डाँटते हुए कहना आरम्भ किया—"अरे, नीच असुर ! तू इतनी बढ़-बढ़कर बातें क्यों कर रहा है। मैं अपने बल पर नहीं खड़ा हूँ। मुझे भगवान् का बल प्राप्त है। उन्हीं की आशा से मैं तुझसे लड़ने आया हूँ। यह मेरे हाथ में महर्षि दधीचि की तप और तेज वाली अस्थियों का वज्र है, इसमें भग-

वान् की शक्ति ने प्रत्यक्ष प्रवेश किया है, तू इससे किसी प्रकार बच नहीं सकता। मैं इस वज्र से तेरे दर्पयुक्त दैत्यों के दल का दलन करके तेरे मस्तक को धड़ से अलग कर दूँगा। तू यहीं कुत्ते की मौत मर जायगा। क्षण भर तू जितना चाहे बड़बड़ाले।"

भगवान् की स्मृति होने से परम भगवद्भक्त वृत्रासुर की आँखों में प्रेमाश्रु छलकने लगे। उसका हृदय भर आया कंठ गद्-गद हो गया। वाणी रुद्ध हो गई। आसू पौंछकर उसने कहा—"हे देवेन्द्र! देखो, मेरे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं, यदि मैं समर में तुम देवताओं को जीत सका तब तो स्वर्ग के राज्य को निष्कंटक भोगूँगा और यदि तुमने मुझे परास्त कर दिया, मुझे युद्ध भूमि में अपने वज्र से मार डाला, तो मैं कर्म बन्धन से छूटकर मोक्ष पद का अधिकारी होऊँगा। मेरे इस इतने विशालकाय शरीर को मांस भोजी जीव भक्षण करेंगे। डाकिनी, साकिनी राक्षस, भूत प्रेत मेरे रक्त का पान करेंगे। सम्पूर्ण भूतों को इस शरीर की बलि अर्पण करके धीर पुरुषों के पद को प्राप्त हो जाऊँगा।"

हँसते हुए देवेन्द्र ने कहा—"अब तेरी बुद्धि ठीक ठिकाने आई, यथार्थ में तू मुमुर्षु है, अब तू मरने ही वाला है। मरने से पहिले जैसे वात के प्रकोप में आदमी बड़बड़ता है उसी प्रकार पहिले तू बड़बड़ा रहा था।"

यह सुनकर वृत्रासुर ने कहा—"देवराज! यदि तुम्हारे वज्र में भगवान् प्रवेश कर गये हैं, तो तुम उस वज्र को मेरे ऊपर छोड़ते क्यों नहीं। भगवत् शक्ति के सम्मुख मैं सिर झुकाये खड़ा हूँ। अपने अद्भुत अमोघ अस्त्र को अब तुम मेरे ऊपर छोड़ दो। तुम तनिक भी इस बात में सन्देह न करो, कि जैसे तुम्हारी गदा पहिले असफल हुई थी, उस प्रकार यह वज्र भी असफल हो जायगा। अरे, भैया! यह वज्र तो महामुनि दधीचि

की पावन अस्थियों से बना है, इसमें मेरे स्वामी भगवान् का तेज व्याप्त है, यह उसी प्रकार असफल न होगा, जैसे उदार पुरुषों के सम्मुख की हुई याचना कभी असफल नहीं होती। तुम्हें भगवान् विष्णु ने लड़ने भेजा है। फिर तुम अपनी विजय में सन्देह क्यों करते हो? तुम्हारी विजय तो अवश्यम्भावी है, क्योंकि जिधर श्रीहरि हैं उधर ही विजयलक्ष्मी और समस्त सद्गुण चले जाते हैं। जब तुम भगवान् की आज्ञा से, उनके बताये हुए उपाय से, दधीचि मुनि की अस्थि के बने वज्र से मुझे मारने आये हो तो मेरी मृत्यु अवश्य होगी, किन्तु मैं मरकर भी अमर हो जाऊँगा। गुरु भगवान् संकर्षण के बताये हुए मार्ग द्वारा मैं उन्हीं श्रीहरि के पादपद्मों का ध्यान करता हुआ संसारी विषयों की ममता को त्यागकर योगियों की गति को प्राप्त हो जाऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाभाग वृत्र भगवत् स्मृति हो जाने से अपने असुर भाव को भूल गये और भगवान् का अनन्य भाव से ध्यान करने लगे।"

छप्पय

असुर पराक्रम निरखि इन्द्र ने गदा चलाई।
तुरत वृत्र ने छीनि इन्द्र गज माँहिं घुमाई॥
ऐरावत सिर लगी फट्यो मुँह अति घबरायो।
तिलमिलाय के हट्यो बहुत सो रुधिर बहायो॥
व्याकुल सुरपति कूँ लख्यो, पुनि प्रहार कीयो नहीं।
सम्हरि समर सम्मुख भयो, वृत्र बात कड़वी कहीं॥

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० ११ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

वृत्र कहैं रे इन्द्र. ब्रह्म हत्यारे पापी ।
अब ई मारूँ तोइ असुर कुल के सन्तापी ॥
अथवा मैं ई दिव्य अस्त्र तें यदि मर जाऊँ ।
तो हरि सुमिरन करत मोक्ष पदवी कूँ पाऊँ ॥
भक्त शिरोमणि असुरवर, ध्यान मग्न यों कहि भये ।
श्री हरि ने तब वृत्र कूँ, समर माहिँ दर्शन दये ॥

प्रिय की स्मृति में कितना सुख है, इसे प्रेमी के अतिरिक्त

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! युद्ध में जब वृत्रासुर को भगवान् के दर्शन हुए तब वे भगवान् की स्तुति करते हुये कहने लगे—"हे हरे ! मैं मरकर भी आपके चरणारविन्दों के आश्रय में रहने वाले दासों का भी अनुदास होऊं । मेरा मन आप प्राण नाथ का ही चिन्तन करे, मेरी वाणी आप के ही गुणों का गान करे और मेरी काया आप के ही कैंकर्य सम्बन्धी कार्यों को करे ।"

कोई दूसरा जान नहीं सकता। अपने प्रिय का जहाँ स्मरण हुआ, तहाँ चित्त तन्मय हो जाता है। यह दृश्य प्रपंच भूल जाता है। प्यारे का नाम सुनने से, उसके सम्बन्ध की चरचा चलने से, उसके समीपवर्ती वस्तु के दर्शन से, उसके अनुरूप अन्य किसी वस्तु के साम्य से प्यारे की छबि नैनों में छा जाती है। फिर मन अपने आपे में रहता नहीं। बाह्य सभी व्यापार विस्मृत हो जाते हैं, संसारी सभी कार्य छूट जाते हैं। अपने पराये का भेद मिट जाता है। बस वे ही वे दिखाई देते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर को इन्द्र के स्मरण कराने पर अपने प्रियतम प्राणनाथ प्रभु की स्मृति हो आई। अब उसका यह भाव विलीन हो गया कि इन्द्र मेरा शत्रु है, मैं रणाङ्गन में उसका वध करने के निमित्त खड़ा हूँ। अब तो वह सोचने लगा—"अहा! मुझसे बढ़कर भाग्यशाली आज कौन होगा जो मैं अपने प्रभु के तेज से इस पाञ्च भौतिक शरीर को त्यागकर सदा के लिये कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा। वह बार-बार इन्द्र से आग्रह करने लगा और कहने लगा—"हे शतक्रतु! तुम भय मत करो, सन्देह को स्थान मत दो, मेरे ऊपर वज्र का प्रहार करो, मैं तो भगवान् का भक्त हूँ, जीत तुम्हारी ही होगी, विजय वधूटी तुम्हारे ही कंठ में जयमाल पहिनावेगी, विजय श्री तुम्हारा ही वरण करेगी।"

यह सुनकर आश्चर्य के साथ इन्द्र ने कहा—"हे असुरवर्य! तुम कैसी बातें कह रहे हो। यदि तुम भगवान् के सच्चे भक्त हो तो तुम्हारी पराजय क्यों होगी? भगवद् भक्त तो कभी पराजित नहीं होते, उनकी तो सदा विजय ही होती है?"

इस पर उच्च स्वर से वृत्रासुर कहने लगे—"अरे भैया! यह बात सत्य है कि विष्णु भक्तों की कभी पराजय नहीं होती। मेरी भी पराजय कहाँ हो रही है। मैं तो शाश्वती विजय प्राप्त

कर रहा हूँ। सदा के लिए कर्म बन्धनों से मुक्त हो रहा हूँ। जो जन मेरे स्वामी सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीहरि से अनन्य प्रेम करते हैं, जो उन्हें छोड़कर और किसी का आश्रय ग्रहण नहीं करते, जो उनके निजजन कहलाते हैं, उन्हें मेरे सर्वसमर्थ नाथ इन तुच्छ संसारी भोगों को नहीं देते। न उन्हें पृथ्वी के भोगों में ही फँसाते हैं, न पाताल तथा स्वर्गों के सुखों में आसक्त करते हैं; उन्हें तो वे मोक्ष रूप सच्चे सुख की प्राप्ति करा देते हैं, जिससे यह कर्म बन्धन रूप संसार का आवागमन सदा के लिये छूट जाय।"

इन्द्र ने पूछा—"असुर श्रेष्ठ! भगवान् अपने भक्तों को संसारी सुख भोग ऐश्वर्य क्यों नहीं देते?"

इस पर वृत्रासुर कहने लगे—"हे सुरपति! इन शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी अनित्य सुखों में रखा ही क्या है? जहाँ अपने समीप भोगों की विपुलता हुई कि द्वेष बढ़ जाता है। तुम अपनी ही ओर देखो। यदि तुम इन्द्र न होते स्वर्गीय सुखों में तुम्हारी अत्यधिक लालसा न होती, तो तुम तपस्वी, यज्ञ कर्त्ताओं से द्वेष क्यों करते। कोई कितना भी तप करे कोई कितने भी यज्ञ करे, तुम्हारी क्या हानि? किन्तु तुम तो समझते हो १०० अश्वमेध करके घोर तप करके यह मेरे इन्द्रासन को छीन लेगा। इसलिये जिसे भी तुम इन शुभ कर्मों में वृत्तहुआ देखते हो, तो तुम्हारे पेट में पानी हो जाता है। येन केन प्रकारेण तुम उसके तप को भङ्ग करना चाहते हो। किसी के १०० अश्वमेध पूरे नहीं होने देते। महाराज पृथु तो भगवान् के अवतार थे, उन्हें तुम्हारे इन्द्र पद से क्या प्रयोजन? किन्तु तुम्हें शंका बनी ही रही। अनेक युक्तियों से विविध पाखंड बनाकर उनके १०० यज्ञ पूरे होने ही नहीं दिये। जिस ऐश्वर्य

को पाकर प्राणियों से द्वेष हो भगवान् अपने भक्तों को ऐसे ऐश्वर्य कभी नहीं देते ।"

इस पर इन्द्र ने कुछ लज्जित होकर पूछा—"असुरर्षभ ! धन सम्पत्ति और ऐश्वर्य में यही एक दोष है या और भी कोई ?"

यह सुनकर वृत्रासुर बोला—"हे सहस्राक्ष ! जो धन सम्पत्ति हमें विषयों की ओर ले जाकर प्रभु से हटाती है, उसमें एक नहीं अनेक दोष हैं । कहना चाहिए दोष ही दोष उसमें भरे हैं । धन सम्पत्ति से सदा चित्त में उद्वेग बना रहता है । धनी सदा उद्विग्न रहते हैं । उन्हें मानसिक शान्ति नहीं रहती । आज अमुक वस्तु नहीं है, उसके बिना वह कार्य रुका है, आज अमुक वस्तु बिगड़ रही है, आज यह नष्ट हो रही है, उनकी रक्षा कैसे हो, धन की अधिकाधिक वृद्धि कैसे हो, किस प्रकार सबका धन बटुर कर मेरे ही पास आ जाय । किस प्रकार मैं सबसे बड़ा ऐश्वर्यशाली धनी बन जाऊँ, ये ही चिन्तायें सदा सताती रहती हैं । इन्हीं चिन्ताओं से चित्त चंचल बना रहता है । जिसके पास चार पैसे जुट गये उसे सदा खुटका लगा रहता है । किसी विरक्त साधु के पास कोई ५००) रख गया । अब रात्रिभर साधु को चिन्ता बनी रही इनका क्या करें, किस परोपकार के कार्य में लगावें ।

प्रातः उसने अपने गुरु से कहा । गुरु ने आज्ञा दी इन्हें गंगाजी में फेंक दो । साधु ने ऐसा ही किया । गङ्गाजी में फेंकते ही उसके सब संकल्प निवृत्त हो गये । सो, हे देवेन्द्र ! मानसिक पीड़ा और उद्वेग का कारण ये सांसारिक सम्पत्तियाँ ही हैं ।"

इन्द्र ने कहा—"हे असुर कुल भूषण ! तुम बड़े ज्ञानी मालूम पड़ते हो । भोगों में और भी जो दोष हों उन्हें मुझे बताओ ।"

इस पर वृत्रासुर बोले—"हे अमराधिप! भोगों की प्राप्ति में एक सबसे बड़ा दोष यह है, कि भोग सामिग्रियों की प्रचुरता में अभिमान बहुत बढ़ जाता है। ज्ञान ढक जाता है, अज्ञान आकर अन्तःकरण में अड्डा जमा लेता है। धन के मद में उन्मत्त हुआ ऐश्वर्यशाली पुरुष समझता है मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं धनी हूँ। मेरे समान कौन है, मैंने अमुक शत्रु को मारा, उसे ललकारा, इसे पछारा, इतने बड़े-बड़े यज्ञ किये, इतने भारी-भारी दान दिये। मैं इतनों का पालन करता हूँ, इतने व्यक्ति मेरे आश्रय में रहकर आजीविका प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार वह अनेक मिथ्याभिमान करके भगवान् से दूर हटता जाता है।"

इन्द्र ने कहा—"महाभाग! अभिमान से पतन कैसे होते हैं?"

वृत्र ने कहा—"अजी, यह तो सीधी सी बात है। अभिमान होता है अज्ञान से। जहाँ अभिमान हुआ कि कलह का सूत्रपात हो जाता है। दो अभिमानी जुट जायँगे वहीं गाली गलोज, मार पीट, लड़ाई झगड़े आरम्भ हो जायँगे। एक दूसरे की निन्दा करेंगे, परस्पर लड़ेंगे प्रहार करेंगे, कटुवचन कहेंगे। कलह नरक भार्या है, वह नरक के मार्ग को प्रशस्त बनाती है। अतः जिन्हें नरक से भय हो वे अभिमान और कलह से सदा दूर ही रहें।"

यह सुनकर देवेन्द्र ने कहा—"इतने ही या और भी कुछ दोष हैं इन संसारिक सम्पत्तियों में?"

इस पर वृत्रासुर ने कहा—"अब मैं कहाँ तक तुम्हें गिनाऊँ। देखो जितने भी बुरे व्यसन होते हैं, इस धन के ही कारण होते हैं। धनी लोग ही धन के मद में भरकर बड़े-बड़े पाप करते हैं। जुआ खेलते हैं, व्यभिचार करते हैं, सुरापान के व्यसनी बन जाते हैं, मादक वस्तुओं का सेवन करने लगते हैं। धन के लिये नित्य

मानसिक श्रम करते रहते हैं, उसी की रात्रि दिन चिन्ता करते रहते हैं। सो हे देवेन्द्र ! इस इतने अनर्थ के मूल इन्द्र पद का तुम्हीं उपभोग करो। मैं तो सम्मुख समर में लड़कर वीर गति पाऊँगा। मैं तो अपने श्यामसुन्दर श्रीहरि को रिझाऊँगा। उन्हीं की चरण शरण जाऊँगा। वे ही मेरे रक्षक हैं, वे ही प्रतिपालक हैं। वे ही मेरे माता, पिता, सुहृद, सम्बन्धी, बन्धु, बान्धव, स्वामी और सर्वस्व हैं। मैं उन्हीं का कुछ काल ध्यान करूँगा। अभी तुम मुझसे युद्ध मत करना। जब तक मैं अपने प्राणनाथ श्रीहरि का ध्यान करूँ, तब तक तुम मुझ पर प्रहार मत करना। मेरे ध्यान में विघ्न मत डालना। तू इस बात में भी सन्देह मत करना कि भगवत् भक्त का युद्ध के निमित्त किया हुआ प्रयास व्यर्थ क्यों हो गया, उसकी विजय न होकर पराजय क्यों हुई। बात यह है कि हमारे स्वामी अपने भक्तों की सदा बड़ी तत्परता से देख रेख रखते हैं। वे उन्हें कभी परमार्थ से पतित नहीं होने देते। जिसमें उनका हित होता है, उसे वे हठ पूर्वक करते हैं। रोगी यदि शुभचिंतक वैद्य से कोई स्वादिष्ट वस्तु माँगता है और वैद्य उससे उसका अहित समझता है, तो लाख बार माँगने पर भी उसे नहीं देता। इसी प्रकार हमारे हरि जब देखते हैं, भक्त विषयों में फँसकर मुझे भूल जायगा, तो उसके धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी प्रयास का सर्वदा नाश कर देते हैं। यह उनकी अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपा ही है। ऐसी कृपा उन्हीं अकिञ्चन भक्तों को प्राप्त हो सकती है, जो एकमात्र उन्हीं को अपना सर्वस्व समझकर अनन्य भाव से उन्हीं के चरणों की निरन्तर उपासना में लगे रहते हैं। जिन्होंने अपने समस्त कर्म उन्हीं के निमित्त कर दिये हैं। ऐसे ही बड़भागी भगवान् के इस अनुग्रह के अधिकारी होते हैं। अन्य पुरुषों के लिये यह अनुग्रह अत्यन्त ही दुर्लभ है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—“राजन् ! देवताओं और असुरों की सुसज्जित दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा हुआ वृत्रासुर भगवान् के ध्यान में तन्मय हो गया। भगवान् ने जब देखा मेरा भक्त मुझे स्मरण कर रहा है, तो वे तुरन्त गरुड़ पर सवार होकर वृत्रासुर के सम्मुख उपस्थित हुए। आकाश मंडल में अपने स्वामी श्रीहरि के दर्शन करके वृत्रासुर के रोम-रोम खिल उठे। वह गद्‌गद कंठ से भगवान् की स्तुति करने लगा। उस समय उसके दोनों नेत्रों से श्रावण भादों की वर्षा के समान झर-झर अश्रु बिन्दु झर रहे थे। कंठ गद्‌गद हो रहा था। सम्पूर्ण शरीर के रोम खड़े हुए थे। हाथ जोड़े हुए वह कह रहा था—“हे हरे ! मैं मरने से डरता नहीं। चाहे असंख्यों बार मरता और जन्मता रहूँ, किन्तु मेरी एक ही साध है, एक ही आन्तरिक अभिलाषा है, कि मरकर भी मैं आपके उन दासों के दासों का दास बनूँ जिनकी आपको छोड़कर अन्य कोई गति नहीं। जिन्हें आपके अरुण चरणों का ही एकमात्र आश्रय है। जो आपके कैंकर्य में सदा लगे रहते हैं। ऐसे भक्तों के सेवकों का भी सेवक बनने में मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

हे मेरे जीवन सर्वस्व ! हे मेरे प्राणों के स्वामी ! हे मेरे जीवनाधार ! मेरा मन मधुप सदा आपके मधुमय गुणगणों का ही स्मरण चिंतन करता रहे। मेरी यह वाणी सदा आपके ही त्रैलोक्य मोहक गुणों के गान में ही संलग्न रहे। मेरे शरीर से आपके ही सेवा सम्बन्धी कार्य हों। स्नान करूँ तो इस भावना से कि इस शरीर से भगवत् सेवा करनी है। पैरों से चलूँ तो इसीलिये कि आपकी अर्चा की सामग्री लानी है, हाथों से जो भी आदान प्रदान करना हो आपकी सेवा के सम्बन्ध से ही किया जाय। रसोई अपने खाने के निमित्त न बनाकर आपके भोग के लिये ही बनाऊँ, सुन्दर से सुन्दर सामग्रियों को शरीर पुष्ट

करने के निमित्त नहीं आपकी सेवा के निमित्त जुटाऊँ। हाथ से आपके पार्षदों को मलूँ, आपके मन्दिर में झाड़ू दूँ। आपके

लिये पत्र, पुष्प, फल तथा पूजा की अन्य सामग्री जुटाऊँ।

आपको आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय देकर सुन्दर नीर से न्हिलाऊँ। चन्दन, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य आदि चढ़ाऊँ। भोग लगाऊँ, प्रसाद पाऊँ, शयन कराऊँ। सारांश शरीर से जो भी कार्य करूँ, आपके ही निमित्त करूँ। आपको विस्मरण करके एक क्षण भी न रहूँ। आपके कैंकर्य में ही जीवन को बिताऊँ। हे मेरे जीवनाधार! ऐसा ही जीवन मुझे दो। ऐसी ही भक्ति मुझे चाहिये।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर इस प्रकार भगवान् की विनय करते-करते तन्मय हो गया। उसके ओठ हिल रहे थे, गद्गद कंठ से वह और भी कुछ कह रहा था। उसे भी आप सचेष्ट होकर सुनिये।"

छप्पय

करि हरि दरसन वृत्र विनयतें बोल्यो बानी।
दीन्हें दरसन देव जानि सेवक अज्ञानी॥
तब दासनि को दास दयानिधि पुनि पुनि होऊँ।
चिन्तन चित नित करे गुणनि को तब हित रोऊँ॥
करें कार्य कैंकर्य कर, गुन गावे बानी सतत।
जो कछु होवे देह तें, सो तुम्हरी सेवा निमित॥

वृत्र स्तुति

[४०८]

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यम्
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ११ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

नहीं चाह है स्वर्ग ब्रह्मपद हू नहिँ चाहूँ ।
भूमि रसातल राज न चाहूँ ऋषि बनि जाऊँ ॥
नहीं सिद्धि सब पाइ सिद्ध बनि जगत लुभाऊँ ।
वांछा चित महँ नहीं मुक्ति की पदवी पाऊँ ॥
है मेरे मन लालसा, चरन कमल चित महँ धरूँ ।
सेवक बनि के सदाई, नित सेवा तुम्हरी करूँ ॥

संसार के जितने सुख हैं वे सब प्रियतम के प्रेम के ऊपर, उनकी कृपा कटाक्ष के ऊपर वारे जा सकते हैं, हमें प्यारे का प्रेम

---

* वृत्रासुर भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे प्रभो ! मैं तो केवल आपको चाहता हूँ। आपको छोड़कर मुझे स्वर्ग, ब्रह्मपद सार्वभौम साम्राज्य, (रसातल का अधिपत्य) योगसिद्धि अथवा मोक्ष आदि किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं है ।"

प्राप्त हो इसके अतिरिक्त हमें और कुछ न चाहिए। शरीर के सुख दुख भाग्य के अनुसार आते हैं, जाते हैं वे अनित्य हैं, विस्मरणशील हैं। स्मरणीय तो स्नेही का अनुपम स्नेह है। इष्ट की कृपा भरी दृष्टि हमारे ऊपर पड़ जाय, तो यह जीवन सफल हो जाय, सभी शुष्कता घुलकर स्निग्धता का जीवन में संचार हो जाय।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अनन्य भगवद्भक्त वृत्र अपने इष्ट श्रीहरि की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे सर्वसौभाग्यनिधे! सभी श्रेय, सभी कल्याण, सभी सौभाग्य के आप जनक हैं। आपसे ही समस्त सौभाग्य का प्राकट्य हुआ है। इस संसार में प्राणी इन्द्रियों के अधीन है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये ही संसार में कान, आँख, जिह्वा, नाक और त्वचा इन पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं। इन इन्द्रियों को ये विषय नहीं मिलते या कम मात्रा में मिलते हैं तभी संसारी जीव अपने को दुखी समझते हैं। इन्द्रियों के अनुकूल विषय मिलने पर क्षण भर को प्राणी अपने को सुखी समझने लगते हैं। किन्तु इन्द्रियों की विषय लालसा ऐसी अक्षय है, कि कितने भी विषय का उपभोग करो इनकी तृप्ति ही नहीं होती। कितनी भी विषय सामग्रियाँ क्यों न मिल जायँ, कितनी भी संसारी भोगों की प्रचुरता क्यों न हो, कोई सन्तुष्ट दिखाई नहीं देता। फिर भी तारतम्य से लोग मिथ्या सुखी माने बैठे हैं। जिसे भर पेट अन्न नहीं मिलता, उससे वह सुखी है, जिसे रूखा सूखा अन्न भर पेट मिल जाता है, उससे वह सुखी है, जिसे सुन्दर स्वादिष्ट दूध घृत के भोजन के साथ स्त्री बच्चे, फूल माला, वस्त्र आभूषण कुछ मात्रा में मिलते हैं। उससे वह धनिक सुखी समझे जाते हैं जिन पर हजार रुपये हों, हजारपति से लखपति, लखपति से करोड़पति और करोड़पति से पद्मपति श्रेष्ठ माना

जाता है। इससे मांडलीक राजा और उससे भी श्रेष्ठ समस्त भूमि का चक्रवर्ती सम्राट् समझा जाता है। यदि कोई मुझे कहे कि हम तुम्हें समस्त भूमंडल का एक छत्र सम्राट बनाये देते हैं, तुम भगवान् को छोड़ दो, तो हे सर्वेश्वर! ऐसे सम्राट् पद की ओर मैं सिर उठाकर भी न देखूँ ।। मुझे तो हे मेरे जीवनधन! आप ही चाहिए। आपकी कृपा का ही मैं इच्छुक हूँ।

यदि कोई कहे पाताल में बड़े-बड़े सुख हैं, वहाँ मणियों का प्रकाश जगमगाता रहता है, वहाँ की समृद्धि स्वर्ग के सदृश है, वहाँ भोगों की प्रचुरता है, वहाँ जरा मृत्यु का भी भय नहीं, दिव्य ऐश्वर्य का सर्वदा उपभोग करते रहते हैं। उस पाताललोक का समस्त ऐश्वर्य हम तुम्हें दिये देते हैं, (उसका सर्वाधिकारी शासक बनाये देते हैं) तुम भगवान् को भूल जाओ, उनकी स्तुति मत करो, तो मैं ऐसे पाताल के आधिपत्य पर लात मार दूँगा, उसे बायें पैर से ठुकरा दूँगा। हे मेरे एक मात्र शरण्य! मैं तुम्हें छोड़कर ऐश्वर्य नहीं चाहता, सुख नहीं चाहता, भोगों की वांछा नहीं; मुझे तो तुम चाहिये। हे जगदाधार! तुम्हारे बिना मैं सात भूविवरों का स्वामित्व लेकर क्या करूँगा।

कोई कहे तुम्हें हम स्वर्ग के सिंहासन पर सदा के लिये अभिषिक्त किये देते हैं। अस्थाई इन्द्र पद को स्थाई बनाकर तुम्हें स्वर्ग का सम्राट् बनाये देते हैं। तुम तीनों लोकों के ऐश्वर्य को यथेष्ट भोगो, किन्तु वासुदेव से सम्बन्ध मत रखो। आनन्द-कन्द नन्दनन्दन के चरणारविन्दों का चिन्तन मत करो, तो हे आनन्दैकनिलय! हे सुखार्णव! मैं उस इन्द्र पद की ओर आँख उठाकर भी न देखूँगा। मैं उस स्वर्ग के आधिपत्य को रौरव नरक के समान, हलाहल विष के समान, विषधर सर्प के समान, (प्रज्वलित अग्नि के समान, मारक अस्त्र के समान) असाध्य रोग के समान, तीक्ष्ण शूली के समान तथा ब्रह्महत्या के समान

अग्राह्य और अस्पर्श समझूँगा। मुझे तो हे मेरी जीर्ण शीर्ण जीवन नौका के एक मात्र कुशल केवट! तुम्हारा ही आश्रय है। तुमही मेरी डगमगाती तरणी को उस पार लगाने वाले हो। तुम्हारे चरणों को छोड़कर मैं और कोई सुख नहीं चाहता, किसी समृद्धि की आकांक्षा नहीं।

कोई कहे तुम ब्रह्मपद लेलो। इन १४ भुवनों के स्वामी बन जाओ, समस्त चराचर जीवों के स्वामी हंसवाहन ब्रह्मा हो जाओ, किन्तु भगवान् को भूल जाओ। तो हे मेरे प्रभो! मैं उस ब्रह्मपद को अभिशाप समझूँगा। अपने पापों का मूर्तिमान् स्वरूप मान कर उनकी अवहेलना कर दूँगा। दीनबन्धो! मुझे ब्रह्मपद से क्या लेना है, स्वामीपन में रखा ही क्या है, और अभिमान को बिना बात मोल लेना है। मैं तो सेवक ही अच्छा हूँ, तुम्हारे चरणों की सेवा मिले इससे बढ़कर मैं ब्रह्मपद को नहीं मानता। असंख्यों ब्रह्मा आपकी भाँति-भाँति से स्तुति करते हैं। आपके अरुण चरणों में अपने असंख्यों मणि मुक्ताओं से युक्त किरीट वाले मस्तकों को रगड़ते हैं, मुझे तो चरणों की रज चाहिये। वही मेरे लिये जीवनमूरि है।

कोई कहे तुम आठों सिद्धि नवों निद्धियों को लेलो। संसार में सबसे श्रेष्ठ सिद्ध बन जाओ। सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करने की भी सामर्थ्य धारण कर लो, किन्तु कृष्ण तथा कृष्ण कीर्तन को छोड़ दो, तो हे भक्त वत्सल! मैं उस सिद्धि को दूर से ही दण्डवत् कर दूँगा। सिद्धि लेकर मुझे क्या करना है, मुझे तो समस्त सिद्धियों के स्वामी की चाह है।

आप कहेंगे अच्छा तू न स्वर्ग चाहता है, न सार्वभौम साम्राज्य, न रसातल का आधिपत्य चाहता है, न ब्रह्मपद, तो क्या मोक्ष चाहता है। मेरे पास सबसे बड़ी वस्तु है मोक्ष। मोक्ष हो गई, संसार बन्धन से छूट गये। "सो, प्रभो! मैं उस रांड़ मोक्ष

को भी लेकर क्या करूँगा, जिसमें आपकी सेवा का सुअवसर प्राप्त न हो। मेरे जन्म हों, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। चिन्ता इसी बात की है, कि आपके चरणों की विस्मृति न हो। हृदय में आपकी मनमोहनी (छटा सदा बसी रहे मन में आपकी मन-मोहनी) मूरति गढ़ जाय, मुख से निरन्तर आपके जगन्मङ्गल सुमधुर नामों का गान होता रहे। कर सदा आपके कैंकर्य सम्बन्धी कार्यों में ही लगे रहें, रसना सदा आपके प्रसादी नैवेद्य की ही लोलुप बनी रहे। उदर आपके प्रसाद भोग से ही भरे। मस्तक पर सदा आपका निर्माल्य आपकी प्रसादी मालायें ही शोभा दें। घ्राण सदा आपके चरणों में चढ़ी तुलसी की गन्ध को ही सूँघती रहे। हे विश्वम्भर! ऐसा ही वरदान आप मुझे दें। आप मुझे अपनी शरण में लेलें। आपके तेजोमय वज्र से मर कर इस आसुरी शरीर को त्याग कर सदा के लिये आपकी सेवा में आना चाहता हूँ, आप मुझे अपनावें। मैं विरही बनकर सदा आपके लिये रोता रहूँ, मेरे जीवन में विरह हो,आपकी याद में तड़पूँ रोऊँ, पागल हो जाऊँ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाभाग वृत्रासुर इस प्रकार भगवान् की स्तुति करते-करते रोने लगे। वे आत्म विस्मृत से हो गये।"

छप्पय

हरि तें हेतु हटाइ विषय जग माँहिँ फँसावें।
हरि बिनु जगके भोग मोइ तनिकहु नहिँ भावें॥
मूरति मन महँ मधुर मचलि माधव की जावे।
रसना निसि दिन सुखद गीत गोविँद के गावे॥
दया सिन्धु द्वारे खड़ो, दरस दास कूँ दीजियो।
कबहूँ कबतें कृपानिधि, कृष्ण-कृपा अब कीजियो॥

—०—

हे हरि! मेरा मन किस प्रकार आपकी बाँकी झाँकी करे ?

(४०६)

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ११ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

कैसे चाहूँ तुम्हें जगत उपमा कहँ पाऊँ ।
तोऊ हिय की विरह चाह सर्वेश सुनाऊँ ॥
खग शावक बिनु पंख मातु कूँ जैसे चाहें ।
भूखे बछरा मातु दूध हित, ज्यों डकराहें ॥
भये प्रवासी प्राण पति, नित्य निहारे नारि ज्यों ।
जीवनधन ! उत्सुक बन्यो, झाँकी चाहूँ नाथ त्यों ॥

---

* वृत्रासुर भगवान् की स्तुति कर रहे हैं—"हे अरविन्दाक्ष ! जैसे बिना पंख के पक्षियों के बच्चे अपनी माता की प्रतीक्षा करते हैं। जैसे दूध ही पीने वाले भूखे बछड़े अपनी माँ के स्तन पान करने को प्रतीक्षा करते हैं। तथा जैसे विरह व्यथिता, पतिपरायणा प्रियतमा परदेश गये अपने प्रियतम को प्रतीक्षा में प्रतिपल अधीर बनी रहती है उसी प्रकार हे कमल दल लोचन ! मेरा भी मन आपकी उसी उत्सुकता से झाँकी करना चाहता है।"

जिस हृदय में मिलन की चाह नहीं, उत्सुकता नहीं, प्रतीक्षा नहीं, सिहरन नहीं, तड़पन नहीं, अभिलाषा नहीं, आकाँक्षा नहीं, संयोग की समुत्सुकता नहीं, प्रियतम को गले लगाने की साध नहीं, नयनों से नयन मिलाकर दरश पिपासा को शान्त करने की कामना नहीं, ऐसा जीवन भी क्या जीवन कहा जा सकता है। वृक्ष किसकी आशा में खड़े रहते हैं, किसके स्वागत के लिये शाखा रूपो हाथों को फैलाये प्रतीक्षा करते रहते हैं। उत्तर मिलेगा ऋतुराज बसन्त की प्रतीक्षा में। भ्रमर अत्यन्त हो तड़के भोर में क्यों पंखों को फैलाये इधर से उधर फुदकते रहते हैं। वे अरविन्दैक बन्धु भगवान् भुवन भास्कर की प्रतीक्षा में तड़फते रहते हैं। कब दिनकर उदित होकर दिन करें, कब कमल खिलें, कब हम उनकी माधुरी का पान करें। यह चक्रवाकी अत्यंत विह्वल हुई क्यों अश्रु बहाती रहती है, नीची नारि किये किसकी प्रतीक्षा में यह खड़ी-खड़ी विलबिला रही है, क्यों यह भोर में ऐसी समुत्सुका बनी हुई है। यह दिवस की प्रतीक्षा कर रही है, कब निशा का अन्त हो, कब अपने प्रियतम से हृदय मिलाकर, अंग से अंग सटाकर, चोंच से चोंच जोड़कर और उनके पंखों में अपने पङ्खों को भिड़ाकर, अपने को उनमें एक कर दूँ। कब उनसे लिपट जाऊँ, इसी प्रतीक्षा में पल-पल को युग-युग के समान बिताती हुई नदी के उस पार से प्रियतम की मन भावनी बोली सुनने को उत्सुक-सी हो रही है।

यह पपीहा क्यों पिउ-पिउ की रटन लगा रहा है, यह किसे बुला रहा है, यह किसके गुन गा रहा है, पानी में रह कर भी यह प्यासा क्यों बना हुआ है। हाय ! इस संसार की रचना ब्रह्माजी ने कैसी विचित्र की है। कितने अगणित पुरुष चौराहे से आते जाते हैं। एक से एक सुन्दर, एक से एक लावण्ययुक्त, एक से एक सजे बजे श्री शोभा सम्पन्न किन्तु पतिव्रता उनकी

ओर फूटी आँखों से भी नहीं देखती। उसके लिये उनका अस्तित्व ही नहीं। जब म्लान मुख मलिन वसनधारी अपने पति परमेश्वर को देखती है, तो उसके हर्ष का ठिकाना नहीं, प्रसन्नता की सीमा नहीं। वह प्रेम में वेसुधि हो जाती है। हृदय में गुदगुदी होने लगती है। कितना पानी भरा है, परम पवित्र-आधि व्याधि तथा संसारी कर्म वासनाओं को मिटा देने वाला निर्मल गङ्गाजी का जल भरा है, किन्तु इस पपीहे को तो एक ही रट है, वह तो स्वाति की बूँद के लिये ही समुत्सुक है, उसी की प्रतीक्षा में आकाश की ओर टकटकी लगाये खड़ा है, या तो उसी बूँद को पीवेगा या मर जायगा। जीवन में कैसी उत्सुकता है, कैसी लालसा है। जब पशु पक्षियों में ऐसी उत्कंठा है तो जिस मनुष्य में अपने प्यारे के लिये आकाँक्षा नहीं, मिलने के निमित्त विकलता तड़फन नहीं वह तो पशु पक्षी, कीट पतंग और वृक्षों से भी गया बीता है। उसे तो मनुष्य कहना पाप है।'

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! प्रेम में विह्वल हुआ वृत्र भगवान् से विरही जैसी चाह माँगता है। अपने प्यारे के लिये पल पल भारी हो, चित्त की वृत्ति उसी में लगी हो ऐसे जीवन की याचना करता है। वह गद्गद कंठ से कहने लगा—"हे मेरे सर्वस्व! मैं तुम्हारा स्मरण समुत्सुकता के साथ करूँ। जैसे मातृ पक्षी अंडा देकर उन्हें सेती हैं, कालान्तर में अंडे फोड़कर छोटे-छोटे बच्चे निकल आते हैं, वे सब भाँति असहाय होते हैं। स्वयं चल फिर नहीं सकते, स्वयं जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते हैं। माता ने जहाँ बिठा दिया बैठ गये, जहाँ लिटा दिया, लेट गये, चोंच में चोंच भिड़ाकर जो खिला दिया खा लिया, न बल न साहस, हो भी कहाँ से वे तो अभी सर्वथा मांस के पिंड ही बने हुये हैं। इन्हें छोड़कर माँ दाना लेने के लिये चली जाती है, माँ को आने में कुछ देर हुई,

तो जिस प्रकार वे पत्तहीन बच्चे तड़फड़ाते रहते हैं, बड़ी उत्कंठा बड़ी उत्सुकता से जिस प्रकार अपनी जननी का स्मरण करते हैं, हे अरविन्दाक्ष ! उसी प्रकार मैं भी आपका चिन्तन स्मरण करूँ। मैं भी तुम्हारे बिना व्याकुल हो जाऊँ। मैं भी तुम्हारे चिरकालीन वियोग को न सह सकूँ।

अथवा जैसे हाल की व्याई गौ है, उसका एक छोटा-सा सुन्दर मुनमुना-सा बछरा है। वह घास नहीं खाता, भूसा नहीं खाता, अन्न अन्नादिक भी नहीं खा सकता। केवल अपनी माँ के दूध के ही आधार पर रहता है। स्वामी ने उसे माँ से दूर खूँटे में कस कर बाँध दिया है। अब उसे भूख लगी है। वह माँ से लिपटना चाहता है, वह अपने मुँह की हुड्ड से मातृस्तनों के मधुर दूध को पान करके अपनी बुभुक्षा को शान्त करना चाहता है। बार-बार इधर से उधर फुदुकता है, रस्सी को तोड़ता है, खूँटा के चक्कर लगाता है, शरीर को हिलाता है, भाँति-भाँति की चेष्टायें करता है, उस समय अपनी माता से मिलने की जैसी उसकी उत्कण्ठा होती है, हे मेरे प्राणेश ! वैसी ही उत्सुकता मुझे आप से मिलने की हो। मैं उसी प्रकार आपके चरणों का चिंतन करता हुआ आपके लिये व्याकुल बना रहूँ।

अथवा कोई पतिप्राणा पत्नी है, उसका पति परदेश चला गया है। प्रियतमा से कह गया है—"प्रिये ! मैं अमुक दिन आ जाऊँगा।" अब उसके सब मङ्गल नष्ट हो गये हैं, वह मल-मलकर स्नान नहीं करती, सोलह शृङ्गार करके शरीर को सजाती नहीं, मेला उत्सवों में जाती नहीं, मधुर स्वर से वीणा लेकर गाती नहीं, सखी सहेलियों के सहित सर में क्रीड़ा करती हुई नहाती नहीं। न वेणी बाँधती है, न केशपाशों में पुष्प लगाती है, यह सब काम तो पति की प्रसन्नता के लिये—उन्हें सुख पहुँचाने के लिये—करती थी। आज उसके प्रियतम तो प्रवासी बन गये

हैं। अब उसे उतना अवकाश कहाँ, कि इन कार्यों को करे। अब तो उसे बैठते, चलते फिरते, खाते-पीते एक ही धुन है, कब मेरे प्राणाधार आवेंगे, कब मेरे तन की तपन बुझावेंगे, कब वे मुझे स्नेह भरित हृदय से उठाकर गले लगावेंगे। कब वह घड़ी आवेगी, कब वह मुहूर्त होगा, जब उनकी चरण धूलि को मस्तक पर लगाऊँगी, कब उनकी झाँकी करके नेत्रों से नेह का नीर बहाऊँगी, कब उन्हें हृदय से लगाकर वियोग जन्य दुःख मिटाऊँगी।

अब वह किसी से बातें भी करती है, तो उन्हीं के सम्बन्ध की। सोचती है, तो उन्हीं की घटनाओं को। शंका करती है, तो उन्हीं को लेकर। प्रथम तो उसे प्रियतम के वियोग में नींद आती ही नहीं, दीर्घ उच्छ्वास छोड़ती हुई पति की शैया का आलिंगन किये तड़फड़ाती रहती है। कदाचित नींद आ भी जाय तो स्वप्न में उन्हीं को देखती है। उन्हीं को रो-रोकर अपनी विरह व्यथा सुनाती है, जब निशावसान में नींद खुलने लगती है और उसे भान होने लगता है, कि यह यथार्थ मिलन नहीं स्वप्न था। तब भी वह आँखें बन्द किये हुये पड़ी रहती है कि फिर नींद आ जाय, एक बार पुनः स्वप्न में ही सही अपने हृदयधन के दर्शन हो जाँय। किन्तु फिर नींद कहाँ। वह तो उचट गई, उत्सुकता बढ़ाकर भाग गई, प्रिय की धधकती, हुई विरहाग्नि को उद्दीप्त करके खिसक गई। पतिव्रता फिर रोती है। बार-बार ऊँगलियों की पोटों पर दिन गिनती है। एक एक करके वही दिन आ गया, जिस दिन उसके हृदय सर्वस्व आने को कह गये थे।

आज उसकी उत्सुकता का ठिकाना नहीं। आज चिरकाल के पश्चात् उसने अपनी शृङ्गारदानी को झाड़ पौंछ कर यथा स्थान पर रखा है। घर को झाड़ बुहार कर स्वच्छ बनाया है। सिन्दूर की डिब्बी ठीक की, सुरमादानी की धूलि झाड़ी है। पानों

को उलट पलट कर गले हुओं को काटा है। कंघा तेल फुलेल इत्र पान भोजन सभी की चिन्ता की है। आज उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं। उत्सुकता सीमा का उल्लंघन कर गई है। क्षण-क्षण में घर के द्वार तक जाती है। कोठे पर चढ़ती है दूर तक दृष्टि दौड़ाती है, फिर घर में आ जाती है। तनिक खड़खड़ाहट हुई कि हृदय बाँसों उछलने लगता है, दौड़कर किवाड़ खोलती है। अरे यह तो कुत्ता है, कुत्ते ने द्वार खटखटाया है। पेड़ पर कौआ बैठे हैं अहा वे अवश्य आते होंगे। कौआ राजा उड़ जा यदि मेरे जीवन सर्वस्व आते हों तो। वह इक टक भाव से खड़ी रहती है। फिर सोचती है दूर से भूखे आवेंगे लाओ थोड़ा साक अमनिया कर लूँ। आटा मल लूँ, आते ही रसोई बनाऊँगी। यह सोचकर भीतर जाती है यह सब करने लगती है। फिर सोचती है—"यदि न आये तो" इस विचार के उठते ही उसके हृदय में एक धक्का-सा लगता है, मानसिक वेदना होने लगती है- फिर पत्तों की खड़खड़ाहट हुई। हृदय में आशा का सञ्चार हुआ, बाहर दौड़ी गई देखा कोई सखी है। उसी से पूछती है—"आज मेरे प्राणाधार आने वाले थे, वे अभी तक न जाने क्यों नहीं आये। तू शकुन देखना जानती है क्या ? शकुनौटी डाल, कि वे कब आवेंगे, आज आवेंगे या नहीं। मुझसे कोई अपराध तो नहीं बन गया ?" इस प्रकार कहते-कहते रोने लगती है, उसे क्षण-क्षण पल-पल एक-एक निमेष भारी हो जाता है। वह व्याकुल हुई, जिस प्रकार पति दर्शन को लालसा से तन्मय हो जाती है। हे मेरे प्रियतम ! उसी भाँति मैं तुम्हारे लिये व्याकुल होऊँ। तुम्हारी स्मृति में अधीर बना रहूँ। जिस प्रकार विरह व्यथित वह पतिप्राणा कामिनी अपने प्रवासी प्रियतम की बाट जोहती रहती है, उसी प्रकार मेरा मन भी आपकी बाँकी-झाँकी के लिये व्याकुल बना रहे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृत्रासुर इस प्रकार विष्णु से विरह की वांछा करता हुआ फूट-फूटकर वहीं रणाङ्गन में रुदन करने लगा ।"

छप्पय

प्रिय आवन के दिवस प्रिया ज्यों व्याकुल होवै ।
आशा तें है मुदित निराशा तें पुनि रोवै ॥
पुनि-पुनि देखे द्वार अटा चढ़ि पीव निहारे ।
कबहुँ निहारे शकुन कबहुँ कछु वस्तु सम्हारे ॥
छिन-छिन पल-पल निमिष महँ, ज्यों प्रियतम सुमिरन करे ।
त्यों हरि तुम्हरे नेह में, नीरस हिय मेरो भरे ॥

मेरी-साध

[४१०]

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यम्,
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ॥
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ११ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

धन जन वैभव स्वर्ग ब्रह्मपद मुक्ति न चाहूँ।
भ्रमत जगतमहँ जन्म ग्रहण करि यदि पुनि आऊँ॥
तो मेरी है साध नाथ! तुम पूरी कीजौं।
विषयनि को नहिँ संग होय हरि यह वर दीजौं॥
सुत कलत्र धन धाम महँ, जिनको मन आसक्त अति।
कबहूँ मोकूँ भूलि प्रभु, तिनको दैयो सङ्ग मति॥

विषय भोगों की वस्तुएँ आज हैं कल नहीं हैं। इनमें सुख

---

* भगवान् की स्तुति करते हुए वृत्रासुर कह रहे हैं—"हे नाथ! प्रारब्ध वश यदि संसार चक्र में मुझे घूमना पड़े तो जन्म जन्मों में आप उत्तम श्लोक प्रभु में प्रीति करने वाले भगवद् भक्तों से ही मेरी प्रीति हुआ करे, किन्तु जो पुत्र कलत्र और गृह आदि में आपकी मोहिनी माया से मोहित होकर, अत्यन्त आसक्त चित्त वाले बने हुए हैं, ऐसे संसारी मनुष्यों में मेरी प्रीति न हो।"

नहीं शान्ति नहीं। इस शरीर का ढाँचा ऐसा बना है कि जिस स्थित में रहता है वैसे ही रहने का इसे अभ्यास हो जाता है। एक राजा ने एक व्यक्ति को धूप में कंकड़ों पर गहरी नींद में सोते हुए देखा। उसने अपने मंत्री से पूछा—"इस व्यक्ति को ऐसी गरमी में कंकड़ों पर ऐसी गहरी नींद कैसे आई ? हमें तो गुद्‌गुदे गद्दों पर प्रयत्न करने पर ऐसी नींद नहीं आती।" मन्त्री ने सरलता से कहा—"प्रभो! यह तो अभ्यास और स्थिति के ऊपर निर्भर है। यदि इसे भी सुख में रखा जाय और शरीर को सुख में रहने का अभ्यास हो जाय, तो इसे भी फिर यहाँ नींद न आवेगी।" राजा ने कहा—"इसे हमें प्रत्यक्ष करके दिखाओ।"

राजा की आज्ञा पालन की गई। उस व्यक्ति को बड़े सम्मान से राजधानी में ले जाया गया। कोई छोटा मोटा काम उसे सौंप दिया गया और जितना सुख बड़े लोगों को दिया जाता है उतना दिया जाने लगा। अब तो वह सुख का आदी हो गया। गुद्‌गुदे गद्दों पर सोता, सुन्दर स्वादिष्ट मधुर भोजन करता, सुख-कर सवारियों पर घूमता। एक दिन मंत्री ने उसकी रजाई की रुई में जान बूझकर २-४ बिनौले छुड़वा दिये। गद्दे में भी २-४ छोड़ दिये। जब वह रात्रि में लेटा तो बिनौले शरीर में चुभने लगे। उसे राजा के समीप ही लिटाया, संकोच वश बोला तो नहीं, किन्तु रात्रि भर जागकर करवट बदलता रहा। प्रातः मन्त्री ने बड़े सम्मान से पूछा—"आपकी आँखें लाल क्यों है ? मुख भी म्लान हो रहा है क्या कारण है ?"

उसने दुखित होकर कहा—"क्या बताऊँ मन्त्रीजी! आज नयी रजाई आई, गद्दा भी नया था, न जाने उसमें क्या वस्तु थी जो रात्रि भर मेरे अंगों में चुभती रही। क्षण भर को भी नींद नहीं आई।"

तब मन्त्री ने राजा से कहा—"देखिये, अन्नदाता ! कहाँ तो इसे कंकड़ों पर धूप में गहरी नींद आ जाती थी कहाँ तो २-४ बिनौले के कारण ही इसे नींद नहीं आई। महाराज ! प्राणी सुविधाओं और परिस्थियों का दास है। जैसी स्थिति में रहना होता है वैसा ही अभ्यास हो जाता है।"

यह तो सुख की बात रही। हमने ऐसे लोगों को प्रत्यक्ष देखा है, जो पहिले सुन्दर से सुन्दर मिठाई को देखकर नाक भौं सिकोड़ते थे। मीठे को देखकर चिढ़ जाते थे, वे ही जब उनका अभाव हो गया, तो एक गुड़ डेली के लिये तरसने लगे। पहिले संगमरमर के फरसों पर नंगे पैरों चलने से जिन्हें सर्दी हो जाती थी, उन्हें माघ पूस के जाड़ों में नंगे पैर ओस से भीगी गङ्गाजी की ठंडी बालू में पड़े रहने में भी कुछ नहीं होता ! इससे यही सिद्ध हुआ कि इन विषय भोगों में कोई विशेष सुख नहीं। सुख का सम्बन्ध तो मन से है। मन सुखी तो सब सुखी,मन दुखी तो सब दुखी। मन की भली भाँति मालिन्य मेटने के लिए मनुष्यों ने साधु संग को सर्वश्रेष्ठ साधन बताया है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृत्रासुर ने आँसू पोंछे और फिर स्तुति करने लगा। उसने कहा—"हे प्रभो ! अब आप से मैं क्या मागूँ ? आप तो वरदांनियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप वांछाकल्पतरु हैं, आपके सम्मुख होते ही सभी इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं। नाथ ! मैं मुक्ति नहीं चाहता, मैं यह भी प्रार्थना नहीं करता कि मेरा कर्म बन्धन क्षय हो जाय, मेरा आवागमन सदा के लिये मिट जाय। प्रारब्ध का भोग भले ही मुझे एक जन्म में नहीं लाखों जन्मों में भोगना पड़े। मुझे पृथ्वी में, रसातल में, स्वर्ग में चाहें जहाँ भी–जिस योनि में भी–रहना पड़े वहाँ रहूँ, किन्तु एक भीख मुझे हे भवभय हारी ! इसी समय दे दो। एक मेरी इच्छा को तुरन्त पूरी कर दो। मैं जहाँ भी रहूँ

आपके भक्तों के संग ही रहूँ। अहा ! आपके जो भक्त निरन्तर आपके त्रैलोक्य पावन नामों का अव्यग्र भाव से स्मरण करते रहते हैं। सर्वदा पवित्र कीर्ति वाले आपके गुणों का गान करते रहते हैं। जो आपको ही सर्वस्व समझते हैं। जिनका आहार विहार सब आपके ही उद्देश्य से होता है; उन हरि भक्तों के पाद पद्मों में मेरा अनुराग हो। उन्हीं की उच्छिष्ट प्रसादी को मैं पाऊँ, उन्हीं के चरणारविन्दों को हृदय पर धारण करके दबाऊँ, उन्हीं के पादपद्मों में अपने सिर को नवाऊँ। उन्हीं की विरदावली को गाऊँ। उन्हें ही अपने व्यवहार से रिझाऊँ। सारांश यह कि उन्हें ही अपना सर्वस्व समझूँ। उन्हें छोड़कर अन्य किसी से मैत्री न करूँ ?

प्रभो ! विषयियों से मेरा सम्पर्क न हो, जिनकी असत् अनित्य पदार्थों में आसक्ति है, जो कङ्कड़ पत्थर ईंट चूना में ही अपनापन किये बैठे हैं, उन्हें ही शरीर की भाँति प्यार करते हैं, एक-एक अंगुल पृथ्वी के लिये झूठ बोलते हैं, पाप करते हैं, असत्य व्यवहार करते हैं, उन मूढ़ों से मेरी मैत्री न हो।

जो आपकी विश्वमोहिनी माया से मोहित होकर मैं मेरी तू तेरी में फँसकर नित्य ही लोगों से राग द्वेष करते हैं, अपने को ज्येष्ठ श्रेष्ठ सम्मानित प्रतिष्ठित समझकर दूसरों का अपमान करते हैं, अन्य प्राणियों से घृणा करते हैं। जो प्राणियों में पृथकत्व स्थापित करके दूसरों का तिरस्कार करते हैं उन्हें हेय समझकर बुरी दृष्टि से देखते हैं, ऐसे अहङ्कारी पुरुषों से मेरा संसार में सम्बन्ध न हो।

जो अपने पुत्रों से तो प्यार करते हैं और शेष लोगों को बहिष्कृत समझते हैं। अपने पुत्रों के लिये ही सब कुछ करने को तत्पर रहते हैं, किन्तु कोई दीन दुखिया भूखा प्यासा आ

जाता है, उसे दुतकार देते हैं, एक रोटी का टुकड़ा भी नहीं देते। हे सर्वान्तर्यामी प्रभो! ऐसे भिन्न दृष्टि वाले असत्पुरुषों में मेरी आसक्ति न हो। हे नाथ! मुझे तो सर्वदा साधुओं का ही सत्संग प्राप्त हो। जो इस हाड़ माँस के शरीर में अत्यन्त ही अनुरक्त हैं। जो इस थूक, खकार, कफ से भरे हुए मुख को देखकर मोहित हो जाते हैं। मांस के लाल-लाल दिखाने वाले अधरों के थूक में ही जो अमृत का अनुभव करते हैं, जिनकी मल मूत्र के स्थानों में अत्यन्त आसक्ति है, जो हाड़, मांस, मेदा, मज्जा, रक्त, नख, बाल, विष्ठा, मूत्र, पुरीष, कफ, पित्त, दुर्गन्ध युक्त वायु से भरे शरीर. संयोग को ही सर्वश्रेष्ठ सुख समझते हैं। जिनकी अशुचि पदार्थों में शुचि बुद्धि है, जो अनित्य को नित्य माने बैठे हैं। जो कामिनी को ही कल्पलता मानकर उसके क्रीड़ामृग बने हुए हैं, उसी के संकेत पर सदा नाचते रहते हैं। जिन्हें धर्म, कर्म, पाप पुण्य का कुछ भी ध्यान नहीं, जो माता, पिता, आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनों की सेवा से रहित हैं। भाँति-भाँति के विषय सम्बन्धी पदार्थों से प्रियतमा को ही प्रसन्न करने में लगे रहते हैं, जिन्हें प्रभु पूजा से प्रेम नहीं, तीर्थ, व्रत उपवास आदि का कोई नियम नहीं, जिनके कर्ण कुहरों में कभी कृष्ण कथा पड़ी नहीं, जो सदा कोकिल वैनी कामिनियों के ही कण्ठ को सदा श्रवण करने को उत्सुक बने रहते हैं। जिनकी जिह्वा से कभी भूल में भी भगवान् के त्रैलोक्य पावन सुमधुर नाम नहीं निकलते, ऐसे स्त्रीजित्, कामलम्पट, विषयी पुरुषों से हे कामारि! हमारा भूलकर भी प्रेम न हो। हम उन्हें अपना हितैषी सम्बन्धी न समझें। जिस-जिस योनि में जहाँ जायँ हमें साधु संग मिले। हम सेवक हों तो साधुओं के हों, पशु हों तो ऐसे हों जो साधु सेवा में काम आते हों, वृक्ष हों तो ऐसे हों जिनका ईंधन जिनकी दन्त धावन आदि का साधुओं की सेवा में उपयोग होता

हो। यदि हम मनुष्य हों, तो ऐसे हों, जिनसे साधु प्यार करते हों, जिन्हें भगवत् भक्त अपना कृपापात्र मानते हों। यदि हम सूकर कूकर हों, तो ऐसे हों, जो साधुओं के समीप रहते हों, यदि हमें पक्षी बनना पड़े, तो हम उन्हीं वृक्षों पर निवास करें जो साधुओं के आश्रम में लगे हों, जिन पर बैठकर कृष्ण कथा कृष्ण नाम कीर्तन श्रवण का सुयोग प्राप्त हो सकता हो। नाथ ! ऐसा वरदान हमें दीजिये। यही आपके पादपद्मों में हे नृसिंह ! मेरी पुनः-पुनः प्रार्थना है। हे हरे त्राहि माम् ! हे राघव ! रक्ष माम्। काम क्रोधादि शत्रुओं से रक्षा करो !"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार वृत्रासुर भगवान् की स्तुति करते-करते बेसुध बन गया। उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही। उसने निश्चय कर लिया मुझे दधीचि की अस्थियों के बने वज्र से मरना ही है। इसलिये वह निश्चिन्त हो गया।"

छप्पय

सदा साधु को संग होहि मन अनत न जावे।
कान कृष्ण की कथा सुनें रसना हरि गावे॥
साधुनि में ई रहूँ सीथ परसादी पाऊँ।
पादोदक सिर धारि प्रेम तें चरन दबाऊँ॥
प्रभु पूजा महँ निरत जे, कथा कीरतन करहिँ नित।
तिनि हरि भक्तनि के चरन, महँ मेरो अति रमे चित॥

—०—

पराजित देवेन्द्र को वृत्र का उपदेश

[४११]

युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनाम् ,
जयःसदैकत्र न वै परात्मनाम् ।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरम्
सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम् ॥*

(श्रीभ० ६ स्क० १२ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

इस्तुति करिके वृत्र उठ्यो सुरपति पै धायो ।
गर्जन तर्जन करी फेंकि तिरशूल चलायो ॥
इन्द्र न बिचलित भये बाहु निज रिपु की काटी ।
मार्यो अरि ने परिघ इन्द्र की ठोड़ी फाटी ॥
वज्र हाथ तैं गिरि पर्यो, सुरपति लज्जित ह्वै रहे ।
नहीं उठायो अस्त्र जब, वृत्र वचन तब प्रिय कहे ॥

प्राणी न बली है न निर्बल। काल ही उसे कभी बलवान् बना देता है, कभी निर्बल कर देता है। ऐसा न होता तो बल-

---

* लज्जित हुए इन्द्र को उपदेश देते हुए वृत्रासुर कह रहे हैं—"हे इन्द्र ! जो आदि पुरुष प्रभु सर्वज्ञ हैं, सनातन हैं और इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा लय करने में समर्थ हैं, उन श्रीहरि को छोड़कर अन्य देहाभिमानी युद्धोत्पुक आततायियों को सदा जय ही प्राप्त नहीं होती। कभी जीत जाते हैं कभी हार जाते हैं।"

वान् पुरुषों की सदा विजय ही हुआ करती। निर्बल सदा हारा ही करते। संसार में अर्जुन से बड़ा बली कौन था, जिसे ग्रामीण भीलों ने लाठियों से परास्त कर दिया। उग्रसेन ने कभी कल्पना भी न की होगी, कि अब मैं फिर राजा बन जाऊँगा। जिसे अपने अत्यन्त बलवान् और सगे पुत्र ने ही बन्दी बना लिया है, उसका छुटकारा तभी हो सकता है, जब कंस से भी कोई बली आकर इसे मारे। जो कंस को मार सकेगा, वह स्वयं ही राज्य सिंहासन पर बैठेगा, इसीलिये उग्रसेन राज्य की आशा खो चुके थे, किन्तु समय के प्रभाव से वे ही फिर समस्त यादवों के सम्राट बने। इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है, कि बल पौरुष सदा काम नहीं देता। कभी कभी बली भी हार जाते हैं और कभी निर्बल भी जीत जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार वृत्रासुर ने बड़े प्रेम से भगवान् की स्तुति की। उसने निश्चय कर लिया, कि युद्ध में विजय की अपेक्षा हँसते-हँसते शत्रु के हाथ से मर जाना ही श्रेष्ठ है। संसार में कोई भी काम तभी तक दुर्लभ होता है जब तक मनुष्य मृत्यु से डरता है। जिसने हथेली पर सिर रख लिया वह निर्भय हो जाता है। फिर वह जो चाहे करने में समर्थ हो जाता है।"

अब वृत्रासुर को मरने से तो भय था ही नहीं। उसने अपना बड़ा भारी अग्नि के समान जाज्वल्यमान तीक्ष्ण त्रिशूल उठाया और उसे घुमाता हुआ इन्द्र की ओर उसी प्रकार झपटा जैसे लवा पक्षी की ओर बाज झपटता है। जैसे सिंह, हाथी पर प्रहार करता है। इन्द्र सम्हले हुए थे, वे उस असुर के प्रहार से उसी प्रकार विचलित नहीं हुए, जिस प्रकार सूकर भगवान् हिरण्याक्ष दैत्य की गदा से विचलित नहीं हुए थे। मधुकैटभ के प्रहार से विष्णु भगवान् जैसे निर्भय खड़े रहे थे, उसी प्रकार इन्द्र अपने

स्थान से तनिक भी हिले डुले नहीं। अब तो वृत्रासुर क्रोध में भर गया था, उसने पूरी शक्ति लगाकर कई बार घुमाकर अपने त्रिशूल को इन्द्र पर फेंका और प्रलय कालीन मेघ के समान गर्ज कर बोला—"ले, पापी ! तू अब ब्रह्महत्या और गुरुहत्या के पाप का फल चख। तू अब मारा गया, इस त्रिशूल से तू अब बच नहीं सकता।"

उस इतने भयंकर तीक्ष्ण और उलका के समान घूमते हुए दुर्दर्शनीय त्रिशूल को वेग के साथ अपनी ही ओर आते देखकर देवेन्द्र न तो घबराये न व्यथित ही हुए। हाथ में वज्र लिये निश्चल भाव से जहाँ के तहाँ डटे रहे। उन्होंने वृत्र और त्रिशूल दोनों को ही लक्ष्य करके अपना वज्र चलाया। उस वज्र से वह अमोघ त्रिशूल तो टुकड़े टुकड़े होकर भूमि पर गिर ही पड़ा, साथ ही जिस हाथ से वृत्रासुर ने उस त्रिशूल को छोड़ा था, उसे भी उस अव्यर्थ अस्त्र ने जड़ मूल से काट डाला। उस भयंकर असुर की कई योजन लम्बी भुजा भूमि पर पड़ी उसी प्रकार दिखाई दे रही थी मानो शेषनाग पृथ्वी का भार छोड़कर भूमि के ऊपर लेट रहे हों। या नागराज वासुकी देवासुर संग्राम देखने को भूमि पर पड़े हों।

अपना एक हाथ कट जाने से वृत्रासुर को बड़ा क्रोध आया, वह लाल-लाल आँखें करता हुआ दूसरे हाथ में एक बड़ा भारी दृढ़ परिघ लेकर प्रलयान्तक अग्नि के समान इन्द्र का विनाश करने के लिये दौड़ा उसने इन्द्र को लक्ष्य करके इतनी सावधानी से परिघ को चलाया कि उसका लक्ष्य व्यर्थ नहीं हुआ। वह परिघ जाकर इन्द्र की ठोढ़ी में लगा जिससे देवेन्द्र तिलमिला उठे और उनका ऐरावत घायल होकर हट गया। इतना ही नहीं भय के कारण इन्द्र के हाथ से दधीचि मुनि की पावन अस्थियों से बना वह अमोघ अस्त्र भी छूटकर भूमि पर गिर पड़ा।

इन्द्र ने अपनी पराजय मान ली। वे अत्यन्त लज्जित हुए किंकर्तव्य विमूढ़ बने ज्यों के त्यों खड़े रहे। वृत्र चाहता तो ऐसी स्थित में इन्द्र को मार गिराता, किन्तु वह तो धर्म के मर्म को जाननेवाला वीर शिरोमणि था। जिस वज्र में अनन्त तपः तेज निहित है, जिसमें स्वयं साक्षात् श्रीहरि की शक्ति प्रवेश कर गई है, उस वज्र को अमराधिप इन्द्र के हाथों से गिरा देना कोई साधारण कार्य नहीं है। वृत्रासुर के उस अति अद्भुत महान् पराक्रम और अनुपम साहस की देवता, असुर, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, उरग, राक्षस, भूत, वैताल, डाकिनी, साकिनी, कूष्मांड, गुह्यक, योगिनी, रुद्रानुचर तथा अन्य सभी ऋषि मुनियों ने प्रशंसा की। वे सब यह समझ कर कि अब तो इन्द्र मारे जायँगे, अत्यन्त ही दुखी हुए। इन्द्र ने भी समझा अब मेरी विजय नहीं हो सकती। उनका अमोघ अस्त्र हाथ से छूटकर वृत्रासुर के समीप ही पड़ा था, किन्तु उस वीर ने उस पृथ्वी पर पड़े हुए तप तेजयुक्त वज्र को दूर से ही प्रणाम किया। उसने गर्व से उसे उठाया नहीं। इन्द्र तो अत्यन्त ही लज्जित हो रहे थे, उनका साहस भंग हो गया, मुख म्लान पड़ गया, लज्जा के कारण उन्होंने गिरे हुए अस्त्र को फिर उठाया नहीं।

इन्द्र को लज्जित और युद्ध से पराङ्मुख हुआ देखकर वृत्रासुर हँसते हुए बड़े मधुर वचनों में उनसे बोला—"हे देवेन्द्र, इतना दुःख क्यों करते हो? यह विषाद का समय नहीं है, साहस को मत खोओ, लज्जा मत करो, गिरे हुए अस्त्र को फिर से उठाओ मैं तुम्हारा शत्रु सम्मुख खड़ा हूँ, मुझ पर सावधानी के साथ प्रहार करो।"

यह सुनकर अत्यन्त ही व्रीडित हुए देवेन्द्र बोले—"भैया, क्या लड़ें? तुमने मुझे युद्ध में परास्त कर दिया। जो युद्ध में शत्रु से पराजित हो गया, उसमें साहस कहाँ रहता है?"

हँसते हुए वृत्रासुर ने कहा—"अरे, इन्द्र! तुम इतने बुद्धिमान् होकर भी ऐसी भूली-भूली-सी बातें कर रहे हो? भैया, युद्ध में जब दो लड़ते हैं, तो उनमें से एक हारता है, एक जीत जाता है। यह जय, पराजय तो सदा लगी ही रहती हैं। विश्वम्भर हैं, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण हैं, जो अज, अखिलेश, सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वसमर्थ अविनाशी श्री अच्युत हैं, उनकी तो कभी पराजय होती नहीं। नहीं तो भैया, संसार में ऐसा कौन है जिसकी सदा जय ही हुई हो। बड़े-बड़े बली, शक्तिशाली शूरवीरों को पराजित होना पड़ा है, हिरण्य कशिपु, हिरण्याक्ष, मधु-कैटभ, रावण, कुम्भकर्ण ये इतने-इतने भारी शूरवीर हुए हैं, कि इनके डर से समस्त लोकपाल थर-थर काँपते थे, जिन्हें तपस्या के द्वारा असंख्यों वरदान प्राप्त थे। एक दिन युद्ध में इन सबको भी पराजय का अनुभव करना पड़ा। इस लिये भैया, तुम चिन्ता मत करो। संसार में जो भी युद्ध करने चला है, उसकी कभी विजय हो जाती है, कभी शत्रु द्वारा पराजित भी हो जाता है।"

इन्द्र ने पूछा—"हे असुरेन्द्र! यह जय पराजय किसके ऊपर अवलम्बित है? क्या अपने पुरुषार्थ से जय नहीं होती?"

यह सुनकर शीघ्रता के साथ वृत्र ने कहा—"होती क्यों नहीं, विजय तो पुरुषार्थ से ही होती है, किन्तु सर्वत्र पुरुषार्थ काम देता ही हो, सो बात नहीं। जब विपरीत प्रारब्ध हो जाता है, तब सभी पुरुषार्थ उद्योग धरे के धरे ही रह जाते हैं। जिस समय जैसा काल होता है, उस समय वैसे ही बानिक बन जाते हैं। जैसा राग निकलने को होता है, उसके पूर्व ही वैसा ठाठ बँध जाता है। यथार्थ बात यह है, कि जय पराजय में मुख्य कारण काल है, यह काल दुर्निवार है। ये जितने भी लोक हैं, इनके जितने भी अधिपति लोकपाल हैं ये सब के सब काल के

गाल में फँसे उसी प्रकार विवश होकर चेष्टायें करते हैं, जैसे जाल में फँसे पक्षी भाँति-भाँति की भय युक्त चेष्टायें करते हैं, तड़फड़ाते हैं, बिलबिलाते हैं, उससे निकलने का प्रयत्न करते हैं, पंखों को फटफटाते हैं, किन्तु विवश होने के कारण उससे निकल नहीं सकते। यह सम्पूर्ण विश्व काल के अधीन है। वृक्ष काल पाकर ही फलते हैं। फल काल पाकर ही पकते हैं, फूल काल पाकर ही खिलते हैं, पत्ते काल से ही हिलते हैं, प्रेमी काल पाकर ही परस्पर में मिलते हैं। सभी का काल नियत है, जो कार्य जिस काल में होना होगा, वह उसी काल में होगा। तुम लाख प्रयत्न करो अमावस्या को पूर्ण चन्द्रमा उदित हो जायँ तो नहीं होंगे, वे तो पूर्णिमा को ही पूरे होंगे। काल ही प्राणियों के मनोबल, इन्द्रियबल, प्राण, जीवन मृत्यु, सुगति, दुर्गति, जय, पराजय, मान, अपमान, सत्कार, तिरस्कार आदि के रूप में स्थित है।"

इन्द्र ने आश्चर्य के साथ पूछा—"महाभाग वृत्रजी! आप तो बड़ी ऊँची बातें कह रहे हैं, फिर कर्ता की स्वतंत्रता कहाँ रही? व्याकरणादि शास्त्रों में तो कर्ता को स्वतन्त्र बताया है।"

हँसकर वृत्रासुर ने कहा—"हे अमरेश! तुम भूल कर रहे हो। जीव को स्वतन्त्रता कहाँ? यथार्थ कर्ता तो श्रीहरि ही हैं। वे ही विश्व ब्रह्मांड के पूर्ण रूप से कर्ता, भर्ता, हर्ता और विधाता हैं। यह प्राणी तो परतन्त्र है। जैसे नाक में नाथ डालकर स्वामी पशुओं को नचाता है, वैसे ही ये सब उन सर्वाधार के संकेत पर नाच रहे हैं। जैसे काठ की पुतली स्वतः नृत्य नहीं करती परदे के भीतर बैठा हुआ व्यक्ति उन्हें इच्छानुसार घुमाता है। तुमने देखा होगा मेले ठेलों में बच्चों को झुलाने के लिये यन्त्र आते हैं। गोल गोल डंडों पर काठ के बने बहुत से घोड़े रहते हैं। बच्चे पैसा देकर घोड़ों पर चढ़ते हैं। चक्र वाला व्यक्ति उनको इच्छा–

नुसार घुमाता है। अज्ञ बालक समझते हैं, ये घोड़े स्वतः घूम रहे हैं। वे बड़े गर्व से माता पिता से आकर कहते हैं, आज हम घोड़े पर चढ़कर बहुत घूमे। उन्हें पता नहीं उन काठ के घोड़ों में स्वतः घूमने की सामर्थ्य नहीं। घुमाने वाला तो उनसे पृथक् ही चैतन्य था। ये घोड़े तो जड़ हैं, स्वतः घूमने में असमर्थ हैं। इसी प्रकार भूतभावन भगवान् इन सम्पूर्ण भूतों को कालचक्र पर बिठाकर घुमा रहे हैं, नचा रहे हैं, खिला रहे हैं, भुला रहे हैं, अपना मनोरंजन कर रहे हैं।"

लोग भूल से कहते हैं सृष्टि की उत्पत्ति में पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंतत्व, पंचभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण को मनोबुद्धि, चित्त और अहंकार ये वृत्तियाँ कारण हैं। इन सबके वास्तविक कारण तो करुणेश हरि ही हैं, उनके बिना ये कोई भी कुछ करने में समर्थ नहीं।"

इन्द्र ने चकित होकर कहा—"प्राणी यदि न चाहें, तो यह सृष्टि आगे कैसे चले। जब मनुष्य संकल्प पूर्वक गर्भाधान आदि करता है तभी सृष्टि वृद्धि होती है, मनुष्य निष्क्रिय हो जायँ तो संसार का कोई व्यवहार ही न हो।"

वृत्र ने कहा—"निष्क्रिय हो जाना कुछ पूड़ी के ऊपर का पुआ तो है नहीं, जो झट मुँह में गये पट निगल गये। निष्क्रिय तो तब हो जायँ जब यह जीव स्वतन्त्र कर्ता भोक्ता ईश्वर हो। इन सब प्राणियों के एकमात्र नियामक तो भगवान् वासुदेव ही हैं। वे ही प्राणियों के द्वारा प्राणियों की रचना करते हैं। वे ही जीवों से जीवों की उत्पत्ति कराते हैं और फिर वे ही उनका जीवों से संहार भी करा देते हैं। जीव जीव को जन्म देता है और जीव जीव को खा भी जाता है। सब उन्हीं क्रीड़ाप्रिय मुकुन्द की इच्छा से हो रहा है। जिस समय जिसका जैसा काल होता है, उस समय वैसी ही परिस्थितियाँ बन जाती हैं। जय पराजय,

सुख-दुख सभी रथ के पहिये के समान काल के अधीन होकर उसी काल की प्रेरणा से प्राणियों के पास आते और जाते हैं।"

इन्द्र ने कहा—"हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ असुरराज ! मनुष्य अपने पुरुषार्थ से क्या दुःखों को मेंट नहीं सकता ? पराजय को विजय के रूप में परिणित नहीं कर सकता ?"

खीजकर वृत्रासुर ने कहा—"कैसे कर सकता है भैया, जब स्वतन्त्र हो तभी तो कर सकेगा। यदि पुरुषाथ से ये अन्यथा किये जा सकते, तो संसार में कोई रोगी न होता, किसी का अपयश न होता, कोई मरता नहीं। स्वेच्छा से रोगों को, अपयश को, मृत्यु को, कौन चाहता है ? किन्तु बिना चाहे भी प्राणियों को नाना रोग होते हैं। न चाहने पर भी ज्वर आ जाता है, सिर में पीड़ा होने लगती है। कोई भी अपना अपयश नहीं चाहता, सभी चाहते हैं, सर्वत्र हमारी प्रशंसा हो, सभी हमारा सत्कार करें, सबसे हम श्रेष्ठ समझे जायँ, किन्तु यश कितनों को मिलता है ? बड़े-बड़े लोगों की अपकीर्ति फैल जाती है। जब काल विपरीत होता है तब रोग, शोक, जरा मृत्यु, अपयश आदि इच्छा के प्रतिकूल वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, जब वही काल अनुकूल होता है, तो इच्छानुसार यश, ऐश्वर्य; भोग, विभव, आयु लक्ष्मी और कीर्ति की प्राप्ति होती है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को प्रतिकूल वस्तुओं की प्राप्ति में न तो विषाद करना चाहिये न अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति में फूल कर कुप्पा ही हो जाना चाहिये। सुख-दुःख, यश-अपयश, जय-पराजय, जीवन-मरण आदि में सर्वदा समानभाव से रहना चाहिये।"

इन्द्र ने कहा—"हे ज्ञानी असुरर्षभ ! ये तीनों गुण ही आत्मा को बाँधे हुए हैं। इन गुणों के ही कारण आत्मा सुखी-दुखी होता है ?"

वृत्र ने कहा—"देवेन्द्र ! यह बात नहीं। ये सत्त्व, रज और

तम तीनों गुण आत्मा के नहीं हैं। ये तो प्रकृति के गुण हैं। आत्मा तो केवल साक्षी मात्र है। जैसे रात्रि के समय भवन में दीपक जल रहा है। दीपक न कुछ करता है न कहता है। उसके आलोक से ही सब वस्तुएँ प्रकाशित हो रही हैं। जहाँ उसने अपने प्रकाश को अपने में लीन कर लिया, तहाँ वस्तुएँ रहने पर भी उनकी प्रतीति नहीं होती। दीपक के साक्षित्व में ही वे दिखाई देती हैं। उसी के प्रकाश में गृह के लोग कार्य करते हैं। इसी प्रकार प्रकृति का समस्त पसारा आत्मा के आलोक पर ही निर्भर है। आत्मा कर्ता भोक्ता नहीं वह तो केवल कूटस्थ साक्षि-मात्र चैतन्यघन है। वह प्रकृति के गुण दोषों से सर्वथा निर्लिप्त बना रहता है। जिसे ऐसा ज्ञान हो गया है, वह प्रकृति के सुख, दुख, जय, पराजय आदि द्वन्द्वों में लिप्त नहीं होता। अतः मैं जय पराजय दोनों में सम हूँ।"

इन्द्र ने आश्चर्य से कहा—"महाराज! आपको कुछ दुःख नहीं होता?"

हँसकर वृत्रासुर ने कहा—"यदि मैं भगवत कृपा का अनुभव न करता होता, तो मुझे दुःख होता। अब तो मैं समझता हूँ, मेरे प्रभु की यही इच्छा है वे मुझसे समर कराना चाहते हैं, अतः कर्तव्यबुद्धि से मैं समर कर रहा हूँ। देखो, तुमने मेरा हाथ काट दिया है, मैं हस्तहीन हो गया हूँ, फिर भी तुम्हारे प्राण लेने का उद्योग कर रहा हूँ, इसी प्रकार तुम भी अपने कर्तव्य का पालन करो। यह तो भैया खेल है; युद्ध तो एक प्रकार का जुआ है, इसमें कभी किसी का दाव लग जाता है, कभी किसी का। कभी कोई हार जाता है, कभी कोई जीत जाता है। किसी को पता नहीं रहता मैं हार ही जाऊँगा या मेरी विजय निश्चित ही है, अतः तुम चिन्ता मत करो विषाद को त्याग करो। गिरे हुए इस अमोघ वज्र को फिर से उठा लो। मैं तुम्हारा शत्रु समर

में सम्मुख खड़ा हूँ, मुझ पर सावधानी से प्रहार करो। देखना है अब किसका पासा उलटता है। ऊँट किस करवट बैठता है। विजय किसे वरण करती है। विजय तो तुम्हारी निश्चित ही है, क्योंकि तुम्हारे वज्र में भगवान् वासुदेव विराजमान हैं। फिर मैं तुम्हें सहज में न छोड़ूँगा। शक्तिभर घनघोर युद्ध करूँगा या तो तुम्हें परलोक ही पहुँचा दूँगा, या मैं स्वयं ही मरकर अपने स्वामी की सेवा में सदा के लिये पहुँच जाऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्र के ऐसे गूढ़ ज्ञान से भरे वचनों को सुनकर इन्द्र परम विस्मित हुए, उन्होंने गिरे हुए वज्र को उठा लिया और वे वृत्र के इस ज्ञान की पुनः-पुनः प्रशंसा करते हुए उनके वचनों का अभिनन्दन करने लगे।"

छप्पय

इन्द्र करो मत सोच वज्र कूँ फेरि उठाओ।
सदा कौन की भई विजय यह मोइ बताओ॥
यश अपयश जय अजय दुःख सुख रहें संग महँ।
रोग शोक भय हर्ष होहि नहिँ कवन अङ्ग महँ॥
युद्ध द्यूत क्रीड़ा सरिस, दोउन महँ को कब थके।
जय होवे या पराजय, निश्चय कोउ न कहि सके॥

—०—

इन्द्र द्वारा वृत्र के वचनों का अभिनन्दन

(४१२)

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी ।
भक्तः सर्वात्मनाऽऽत्मानं सुहृदं जगदीश्वरम् ॥ *

(श्रीभा० ६ स्क० १२ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

सुनी भक्तिमय मधुर वृत्र की सुरपति बानी ।
बोले आदर सहित अहो, दानव ! तुम ज्ञानी ॥
सब जीवन कूँ विश्व मोहिनी मोहे माया ।
असुर होहि जस कृष्ण करी कस तुम पर दाया ॥
तुम विजयी हौं पराजित, तोऊ सम्मुख लरूँगो ।
क्षुद्र स्वर्ग सुखके निमित, समर असुरवर करूँगो ॥

सत्य के सम्मुख सभी को सिर झुका देना पड़ता है । सत्य जहाँ से भी निकलेगा वहीं चमकेगा । मोती सीप से निकलती हैं, कमल कीच से होते हैं, कस्तूरी मृग के हृदय से निकलती है ।

---

* वृत्रासुर के ज्ञानमय उपदेश को सुनकर देवराज इन्द्र उसकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"अहो ! हे दानव ! अवश्य ही तुम कोई सिद्ध हो, निश्चय ही तुमने सम्पूर्ण जीवों के आत्मा और सुहृद स्वरूप जगदीश्वर श्रीहरि की आराधना की है । इसीलिये तुम्हारी ऐसी शुभ मति है ।"

शहद मक्खियों के मुख से उगला हुआ होता है, शङ्ख हड्डी होती है, रेशम कीड़ों के मुख से उन्हें मार कर निकाला जाता है। ये सब वस्तुएँ अपात्र के संसर्ग से अपावन नहीं मानी जातीं। सुवर्ण चाहें जहाँ पड़ा हो, चाहे जहाँ से उत्पन्न हुआ हो उसका सभी आदर करते हैं, इसी प्रकार भगवद् भक्ति किसी भी जाति के किसी भी वर्ग के पुरुष के हृदय में उत्पन्न क्यों न हो वह सराहनीय है, श्लाघनीय है, वन्दनीय और पूजनीय है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्र की बात सुनकर इन्द्र कहने लगे—"वृत्रासुर! भैया, तुम ही धन्य हो जो असुर होकर युद्ध में भी तुम्हारी ऐसी दृढ़ मति बनी हुई है। निश्चय पूर्व जन्म में तुमने विविध भाँति के दैव कर्म किये हैं। अग्नि, अतिथि और गुरुजनों की तुमने निष्कपट भाव से आराधना की है। तुमने अपने शील सदाचार से पूर्वजन्मों में अवश्य ही प्रभु को प्रसन्न कर लिया होगा, तभी तो नीच तामस असुर योनि में आकर भी तुम्हारी ऐसी विशुद्ध बुद्धि बनी हुई है। भगवान् इन चराचर प्राणियों के भीतर समान भाव से रम रहे हैं, वे ही सब की आत्मा हैं। प्राणिमात्र के सुहृद हैं, सखा हैं, हितैषी हैं, उन जगदात्मा श्रीहरि की ही उपासना का यह फल है कि रणांगन में भी आपकी मति कुंठित नहीं। हम अब तक यही सुना करते थे कि भगवान् की दैवी माया बड़ी दुस्तर है। बड़े-बड़े ज्ञानी भी इसके चक्कर में फँस जाते हैं। इस तीक्ष्ण धारावाली सरिता को हाथों द्वारा तैर कर किनारे पर पहुँचते-पहुँचते डूब जाते हैं, किन्तु मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ, कि आप इस विश्वमोहिनी माया को तर गये। आप इसे उपासना द्वारा पार कर गये।"

वृत्र ने कहा—"देवेन्द्र! तुमने यह बात कैसे जानी?"

इन्द्र दृढ़ता के स्वर में बोले—"बन्धुवर! देखिये, हम सत्व

प्रधान देवता कहलाते हैं। किन्तु फिर भी माया के चक्कर में फँसे हुए हैं। भोग की वासनाओं में अन्धे होकर प्रकृति का अनुसरण कर रहे हैं, किन्तु तुम आसुरी योनि में जन्म लेकर भी आसुरी प्रकृति से निर्मुक्त बने हुए हो। तुम्हें संसार की माया ने स्पर्श तक नहीं किया। अवश्य ही तुम महापुरुष हो। तुम्हारी उपासना बड़ी ऊँची है। प्रायः देखा गया है, कि विशुद्ध सत्व धाम श्री हरि में उन्हीं पुरुषों का चित्त स्थिर होता है जो सात्विकी प्रकृति वाले होते हैं, सतोगुणी कार्य करते हैं। किन्तु तुम्हारे सब कार्य रजोगुणी हैं। रज और तम प्रधान असुर योनि में तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम्हारे साथी भी सब रजोगुणी असुर हैं, फिर भी तुम सर्वात्म भाव से भगवान् के भक्त हो। भगवान् वासुदेव में तुम्हारी बुद्धि इतनी दृढ़ता के साथ लगी हुई है, कि इसे देख-कर मैं तो विस्मित तथा लज्जित हो रहा हूँ। अब मैं समझ गया कि आप स्वर्ग पर राज्य करने की इच्छा से युद्ध नहीं कर रहे हैं।"

हँसते हुए वृत्र ने पूछा—"तब तुम मेरे युद्ध का क्या कारण समझे हो ?"

इन्द्र ने कहा—"मैं समझता हूँ आप कर्तव्य बुद्धि से अपने पिता की आज्ञा का पालन कर रहे हो। आपको हर्ष विषाद कुछ भी नहीं है। न आपको मेरे प्रति द्वेष भाव ही है। जय पराजय दोनों में ही आपकी बुद्धि सम है। फिर आप स्वर्गीय सुखों की वांछा करने ही क्यों लगे। अजी जिन्होंने मोक्षपति भगवान् वासुदेव के प्रेमामृत से भरे सुधा समुद्र में क्रीड़ा कर ली, जो उसका सुख लूट चुके, उन्हें फिर भला संसारी विषय भोग रूप क्षुद्र गढ़ों में सड़े तालाबों में दुर्गन्धियुक्त जलों में विहार करने की स्पृहा क्यों होने लगी। महाभाग ! जैसा ज्ञान आज आपने दिया

है, ऐसा ही ज्ञान एक बार मुझे महाभाग बलि ने दिया था। उस ज्ञान को सुनकर मेरा मोह दूर हो गया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! बलि ने इन्द्र को ज्ञान कब दिया? क्यों दिया? वह ज्ञान कैसा था? यदि आप उसे उचित समझें और बताने योग्य हो तो हमें अवश्य बतावें। वृत्र की इन बातों को सुनकर हमें बड़ा आश्चर्य हो रहा है।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो! मैं महाभाग परम भगवद्-भक्त बलि और इन्द्र के उस सम्वाद की वार्ता संक्षेप में सुनाता हूँ। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें। एक बार बलि ने इन्द्र पर चढ़ाई की बड़ा घमासान युद्ध हुआ। बलि की, बहुत-सी सेना मारी गई। असुरों की पराजय हुई, देवताओं ने असुरों को बहुत मारा और भागते हुओं को भी खदेड़ा। असुरराज बलि भी घायल हुए। इन्द्र ने उनका पीछा किया। भागते-भागते वे पृथ्वी में कहीं जाकर छिप गये।"

एक बार इन्द्र अपने ऐरावत हाथी पर चढ़कर पृथ्वी पर आये। उनके ऊपर छत्र लगा था, दोनों ओर चँवर डुल रहे थे। आगे-आगे गन्धर्व गान करते जाते थे, अप्सरायें नाच रही थीं। वन्दीजन उनके पराक्रमों का गान कर रहे थे। इस प्रकार स्वर्गीय श्री से सम्पन्न देवेन्द्र बड़े ठाठ बाट से जा रहे थे। जाते समय उन्होंने एक फूटे किले के समीप ही एक गदहे को चरते देखा। गदहा उस मैले कुचैले स्थान में बड़े आनन्द से सड़ी गली वस्तुओं को खा रहा था। उस गदहे को हृष्ट पुष्ट और अकेले देखकर इन्द्र को कुछ विस्मय हुआ। उन्होंने ध्यान लगाकर देखा, तो ज्ञात हुआ कि यह तो असुरराज बलि है। गदहे का रूप रखकर अपने दिन काट रहे हैं। यह देखकर इन्द्र को बड़ी हँसी आई और बड़े गर्व से कहने लगे—"कहिये, असुरराज! आज

तो गदहा बने घूम रहे हो। एकबार तुमने मुझे स्वर्ग के सिंहासन से भगा दिया था। उस समय की तुम्हारी श्री कहाँ चली गई? उस समय तो तुम स्वर्ण सिंहासन पर बैठते थे। छत्र चँवरों के नीचे रहते थे। आज यह निन्दित वेष? तुम्हें लज्जा भी नहीं लगती। कहो तो मैं अभी तुम्हें मार गिराऊँ?"

इतना सुनते ही असुरेन्द्र बोले—"अरे, इन्द्र! तुझ जैसे अज्ञानियों को दुःख होता है। मैं तो इसमें दुःख का कोई कारण नहीं देखता। यह तो समय की बलिहारी है। एक दिन हमारा वह भी समय था एक दिन आज भी है। उस समय न मुझे हर्ष था और न इस समय कोई विषाद। यह तो गुण प्रवाह है। सुख दुख, जय पराजय, अनुकूल प्रतिकूल ये सब तो समयानुसार आते जाते रहते हैं। बुद्धिमान इन बातों से मोहित नहीं होते। तुझ जैसे अज्ञानी ही दुख में दुखी होते हैं और सुख में मारे अभिमान के आपे से बाहर हो जाते हैं। आज मेरा ऐसा समय है इसे भी मैं प्रभु की देन समझकर भोग रहा हूँ। एक दिन फिर वह समय आवेगा कि तुझे इन्द्र पद से हटाकर मैं स्वयं इन्द्र बन जाऊँगा।"

रही मारने की बात। सो, जब तक मेरा मरने का काल नहीं आता तब तक तू मुझे मार ही नहीं सकता। मारने वाले और जिलाने वाले तो मेरे सर्वान्तर्यामी प्रभु ही हैं, तू भी उनका ही बनाया हुआ इन्द्र है। वे तुझे समय आने पर इन्द्र पद से उतार कर उसी प्रकार फेंक देंगे, जैसे संसारी लोग दूध में से मक्खी को निकालकर फेंक देते हैं।"

इन्द्र ने कहा—"हे असुराधिप! यहाँ अकेले आपको इस निन्दित योनि में कष्ट नहीं प्रतीत होता?"

इस पर बलि ने कहा—"कष्ट उन्हीं को होता है, जो इन वैषयिक पदार्थों को सत्य मानते हैं। मेरी तो इन पदार्थों में सत्-

भाव की आस्था ही नहीं। मैं तो भगवत् चिन्तन को ही मुख्य मानता हूँ। भगवान् का चिन्तन बना रहे, फिर चाहे सूकर कूकर योनि हो या देवयोनि दोनों ही बराबर हैं। तुम्हें जो सुख अपनी इन्द्राणी के साथ है। सूकर को वही सुख अपनी सूकरी के साथ है। जो लोग अज्ञानी हैं, वे विषयों की प्रचुरता और न्यूनता में सुखी दुखी होते हैं। मुझे तो इस योनि में कोई भी कष्ट नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! असुरराज बलि की ऐसी बातें सुनकर लज्जित हुए देवेन्द्र वहाँ से चले गये। उन्होंने जिस प्रकार बलि की बातों का अभिनन्दन किया था उसी प्रकार वृत्रासुर की बातों का भी अभिनन्दन किया। अब वृत्र में और इन्द्र में जो बड़ा भारी घमासान युद्ध होगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तुम कृतार्थ ह्वै गये भक्ति भगवत की पाई।
पर उपकारक असुर ज्ञान दे करी भलाई॥
हम तो भैया! विषय भोग महँ सदा निरत हैं।
इन्द्रासन रक्षार्थ करें हम यत्न सतत हैं॥
प्रभु पद पद्मनि महँ परे, विजय पराजय सम तुम्हें।
धर्म युद्ध कर्तव्य हित, करनो चहिये अब हमें॥

—०—

वृत्र के उदर में देवेन्द्र

[४१३]

इति ब्रुवाणावन्योन्यं धर्मजिज्ञासया नृप ।
युयुधाते महावीर्याविन्द्रवृत्रौ युधांपती ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १२ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

यों कहि दोनों भिरे परिघ अरु वज्र घुमावें ।
क्रोधित ह्वै के फिरें परस्पर शस्त्र चलावें ॥
वृत्र चलाई शक्ति बीच महँ सुरपति डाँटी ।
मार्यो तकि कें वज्र बाहु दूसरि हू काटी ॥
असुर भुजा दोनों कटीं, परवत सम घूमत फिरत ।
भीषन मुखकूँ फारिकें, इन्द्र ओर दौर्यो तुरत ॥

ज्ञानी अज्ञानी दोनों को ही कर्म में प्रवृत्त होते देखा गया है, किन्तु उनकी भावना में बहुत अन्तर है, भावना के अनुसार ही फल भी होता है, अतः ज्ञानी अज्ञानी के एक समान दीखने वाले कर्मों के फल में बड़ा अन्तर हो जाता है । अज्ञानी पुरुष तो आसक्ति के सहित फल की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त होता है, किन्तु ज्ञानी योगी आसक्ति को छोड़कर आत्म शुद्धि के निमित्त

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार वृत्रासुर और देवेन्द्र धर्म की जिज्ञासा से बातें करते हुए फिर परस्पर में दोनों युद्ध करने लगे, दोनों ही युद्धस्थल के अधिनायक थे ।"

कर्म करना ही चाहिये इस बुद्धि से—कर्मों को करते हैं। उनके फल में वैसा ही अन्तर हो जाता है, जैसे कच्चे दाने और भुने दानों के बोने से। दो खेत हैं, ज्ञानी अज्ञानी दोनों ने ही उन्हें समान भाव से जोता। जोतकर दोनों ने ही उसमें चने बोए। चने तो दोनों के एक से हैं, खेत भी एक-सा है, बोने की क्रिया भी एक-सी है, दीखने में दोनों एक से काम करते दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु बीच में तनिक-सा अन्तर है। अज्ञानी के बोने वाले बीज कच्चे हैं वे बोने के १०।५ दिन पश्चात् अंकुरित हो उठते हैं, पौधे होते हैं, लाल लाल फूल लगते हैं, फिर उनमें चना के बूट लगने लगते हैं, किन्तु ज्ञानी के बीज भुने होते हैं उसने भी बो दिये। क्यों बोयेजी ? अब क्यों का क्या उत्तर है ? खेल-खेल में बो दिये। बैठे ठाले आलस्य में पड़े क्या करते ? बो दिये बस, बो तो गये, उनमें न अंकुर हुआ न पेड़ हुए न फल लगे। उनका कर्म विफल हो गया। उनमें अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं की। इसीलिये कहा है कि जिसे कर्तृत्व का अभिमान नहीं, जिसकी बुद्धि शुभाशुभ कर्मों को करते हुए उनमें तृप्ति नहीं होती, वह यदि लोगों को मार भी दे, युद्धादि क्रूर कर्मों को करे भी तो न वह मारने का दोष भागी होता है न कर्म बन्धनों में लिप्त ही होता है। उसके लिये सब खेल है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! असुरराज वृत्र में और सुरराज इन्द्र में इस प्रकार धर्म सम्बन्धी-भगवद् भक्ति सम्बन्धी बातें होती रहीं। अब दोनों ने युद्ध करने की ठानी। दोनों ही परस्पर में अपने-अपने अस्त्र शस्त्र लेकर भिड़ गये। एक ओर देवताओं की सम्पूर्ण सेना चुपचाप खड़ी थी, दूसरी ओर असुरों की सेना युद्ध से पराङ्मुख हुई खड़ी थी। दोनों ही ओर के सैनिक इन्द्र और वृत्र के युद्ध को बड़ी उत्सुकता से देख रहे थे। आकाश में बहुत से विमान मँड़रा रहे थे, उनमें बैठे हुए

सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि दोनों के भयंकर युद्ध को निहार रहे थे। दोनों ही वीर थे, दोनों ही बली, शास्त्रज्ञ, रण
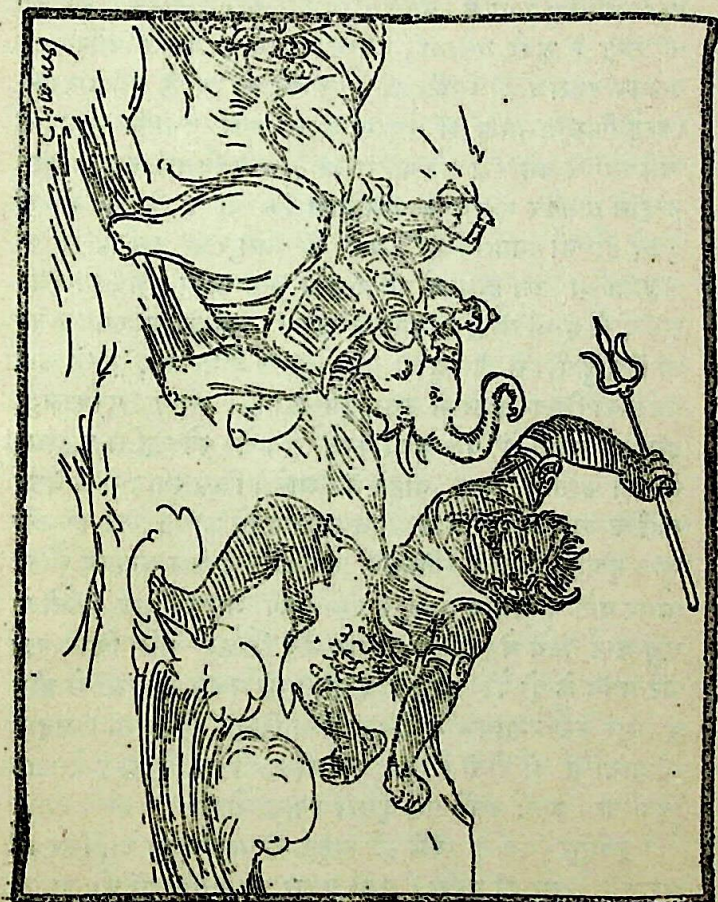
विद्या विशारद तथा नामी योद्धा थे एक दूसरे को पराजित करने के निमित्त सतत प्रयत्न कर रहे थे।

लड़ते-लड़ते शत्रुसूदन असुर वंशावतंश इन्द्र-मदमर्दन वृत्रासुर ने भयानक लोहे का परिध उठाया। पहिले तो उसे हिलाया फिर दशों दिशाओं में वेग से घुमाया और दाँतों को कटकटा कर इन्द्र के ऊपर चलाया। वृत्र के परिघ को अपनी ओर आते देखकर देवराज की सिटिल्ली भूल गई, वे पहिले तो घबराये, किन्तु फिर नारायण का स्मरण करके और दधीचि मुनि की अस्थियों के बने वज्र की महिमा जानकर वे विचलित नहीं हुए। उन्होंने तानकर एक ऐसा वज्र मारा कि परिघ के तो सैंकड़ों टुकड़े हो ही गये। जिस हाथ से वृत्रासुर ने उस परिघ को चलाया था उस हाथ को भी जड़ से काट डाला। अब तो वृत्रासुर दोनों हाथों से हीन रुण्ड-मुण्ड-सा दिखाई देने लगा। वह दोनों बाहुओं से हीन हुआ ऐसा प्रतीत होता था, मानों कोई पर्वत का शिखर इधर से उधर घूम रहा है। राजन्! पूर्वकाल में इन सब पर्वतों के पंख हुआ करते थे। ये स्वेच्छा से आकाश में उड़ा करते थे, जहाँ चाहते बैठ जाते। जिस स्थान में ये बैठते वहाँ के नगर ग्राम क्षेत्र सभी नष्ट भ्रष्ट हो जाते। प्रजा को बड़ा कष्ट हुआ। प्रजा के प्रतिनिधि एक शिष्ट मण्डल बनाकर देवेन्द्र अमर पति के समीप गये, उन्होंने बाण मारकर सब पर्वतों के पङ्ख काट दिये थे। जिस प्रकार ऊँचे शिखर वाले किसी पङ्ख कटे पर्वत के दो पैर जोड़ दिये हों, उसी प्रकार भुजाओं से हीन वृत्रासुर उस रणाङ्गन में दौड़ता हुआ दिखाई देने लगा। लड़ाई तो हाथों से ही होती है, उसके दोनों हाथों को तो इन्द्र ने काट दिया था। अतः उसने एक दूसरा उपाय सोचा।

वृत्रासुर एक तो वैसे ही बहुत लम्बा तड़ङ्गा था, फिर भी मायावी असुर ही ठहरा। सभी प्रकार की मायाओं को जानता था। उसने अपना विकट रूप बनाया। उसके पैर तो पृथ्वी पर टिके थे। सिर का मुकुट स्वर्ग को छू रहा था। छाती भुवर्लोक

तक तनी थी। इस प्रकार तीनों लोकों को अपनी विशाल काया से ढककर उसने अपने भीषण मुख को फाड़ा। मुख क्या फाड़ा उसने एक नये ही आकाश की सृष्टि की। उसकी ठोढ़ी तो पृथ्वी में लगी हुई थी। ऊपर का ओठ स्वर्ग को छू रहा था, उस भयानक मुख में अजगर के समान एक जिह्वा लपलपा रही थी और कराल काल के सदृश भयङ्कर बड़ी-बड़ी दाढ़ें उस की भयङ्करता को और भी बढ़ा रही थीं। उसके ऐसे वीभत्स रूप को देखकर देवताओं के छक्के छूट गये। पृथ्वी थर-थर काँपने लगी। बड़े-बड़े पर्वत स्वतः ही हिलने डुलने और गिरने लगे। देखने में वह अत्यन्त भयङ्कर तथा डरावना लगता था। अंजन पर्वत के समान वह काला था। सूर्य चन्द्र के समान उसकी दो आँखें चमक रही थीं। वह हू हू करता हुआ बड़े वेग से इन्द्र की ओर दौड़ा। इन्द्र ज्यों ही अपने वज्र को सम्हालते हैं, त्यों ही वह ऐरावत के सहित इन्द्र को निगल गया। जैसे हमलोग दाल भात को मिलाकर उसके ग्रास को निगल जाते हैं वैसे ही ऐरावत रूप दाल को इन्द्र रूप भात के ग्रास के साथ कंदरा रूप मुख के द्वारा वृत्रासुर ने पेट रूप आकाश में विलीन कर लिया।

अब देवताओं की बुरी दशा थी, वे डरकर दशों दिशाओं में भागने लगे। असुरों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे सम्पूर्ण बल लगाकर वृत्रासुर की जय बोलने लगे। उन्होंने अपने जय-ज़यकारों से दशों दिशाओं को भर दिया आकाश मण्डल गूँजने लगा। पर्वत फटने लगे, मेघ गर्जने लगे, यक्ष राक्षस तर्जने लगे, माता पिता बालकों को बाहर निकलने से बर्जने लगे। सर्वत्र हाहाकार-सा मच गया। बिना इन्द्र के त्रिलोकी में अन्धकार-सा छा गया, ऋषि मुनि तथा धर्मात्मा लोग व्याकुल होने लगे। यज्ञ भगवान् घबराने लगे। अग्नि का तेज मन्द पड़ गया। सभी

ओर से ऋषि मुनि, मनु, प्रजापति दौड़े आये और इन्द्र को वृत्रासुर के पेट में पड़ा देखकर सभी 'बड़े दुख की बात है,
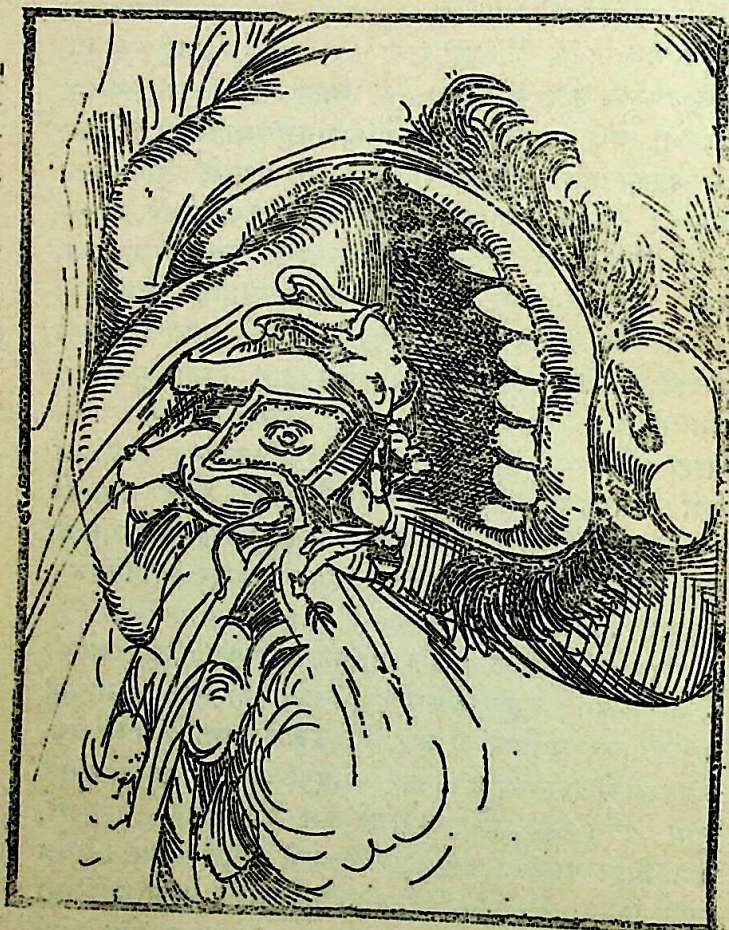
ऐसा कैसे हो गया, यह तो अत्यन्त ही अद्भुत बात है।' इस प्रकार अनेक बातें कहकर आश्चर्य प्रदर्शित करने लगे। कोई

शांति पाठ करता, तो कोई मन्त्र ही जपने लगता। कोई दुर्गा पाठ करता, तो कोई अपने इष्टदेव को मन ही मन मनाता। इस प्रकार सभी के मन में ग्लानि हुई, सभी परम विस्मित होकर सोचने लगे, कि अब आगे क्या होगा। देवराज इन्द्र वृत्रासुर के पेट में पड़े-पड़े अपनी विजय की बातें सोच रहे थे।"

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! यह तो आप बड़ी आश्चर्यजनक बातें कह रहे हैं। वृत्रासुर के पेट में पहुँचने पर भी इन्द्र मरे क्यों नहीं? उनका प्राण घुट क्यों नहीं गया? वे पेट में जाकर भी जीवित क्यों बने रहे?"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् शुक कहने लगे—"राजन्! देखिये, जिनकी रक्षा श्रीहरि करते हैं, उन्हें कोई मार नहीं सकता। यदि पेट में जाने से ही जीव मर जाता तो सभी जन्म से पहिले माता के पेट में ही रहते हैं। बालक कितने दिन माता के पेट में रहता है, वहाँ खाता है पीता है, साँस लेता है। मर तो नहीं जाता। भगवान् की माया अपार है। जिस महाभारत युद्ध में करोड़ों हाथी, घोड़ा, योद्धा मरे, जिसमें बड़े-बड़े वीरों का संहार हुआ, रक्त की नदियाँ बहीं, उसमें चार पक्षी के अंडे सुरक्षित बने रहे।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह तो आप बड़ी ही विचित्र बात सुना रहे हैं, अजी कोई और जीव होता तो उसकी बात मानी भी जा सकती थी। रणभूमि में अंडे कैसे बच गये? इस विषय में हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है। यदि आप उचित समझें तो इस कथा को हमें अवश्य सुना दें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो, आप सब ध्यानपूर्वक श्रवण करें, मैं इस कथा को आप सबको सुनाता हूँ।"

ज्ञानियों की दृष्टि में यह जगत् भगवान् की क्रीड़ा है। वे

कभी विषाद् नहीं करते। जिस घटना को भी देखते हैं उसे ही देखकर हँस जाते हैं। समझते हैं मेरे प्रभु इसी रूप में आनन्दानुभव कर रहे हैं। नारदजी का कुतूहल ऐसा ही है। उन्हें दैत्य दानव, यक्ष राक्षस, देवता, असुर, मनुष्य, पशु पक्षी सभी मानते और पूजते हैं। ये भी इधर की उधर लगाकर एक को दूसरे से भिड़ाकर तमाशा देखते रहते हैं। चोर से कह आते हैं, वह बड़ा धनी है उसके घर माल मिलेगा, शाह से जाकर कह देते हैं–देख सावधान रहना, तेरे घर अमुक चोरी करने आने वाला है। यही इनका व्यापार है। खेल की बातों का प्रायः लोग बुरा नहीं मानते। दक्ष आदि एक आध इसके अपवाद भी होते हैं, किन्तु प्रायः नारदजी से सभी सन्तुष्ट रहते हैं। हाँ, तो एक दिन घूमते फिरते नारदजी स्वर्ग में पहुँचे, नन्दनवन के दिव्य पुष्पों की धीमी-धीमी गन्ध आ रही थी। चारों ओर बसंत की छटा छिटक रही थी। शीतल, मन्द सुगन्धित पवन हँसते हुए अठखेलियाँ करते हुए बह रहे थे। देवराज इन्द्र अपनी सुधर्मा सभा में शची देवी के साथ सिंहासन पर सुखपूर्वक बैठे हुए थे। गन्धर्व गा रहे थे, अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। उसी समय वीणा बजाते हरि गुन गाते नारदजी इन्द्र की सभा में पहुँचे। देवर्षि नारद को आते देख, देवराज शीघ्रता के साथ अपने सिंहासन से उठ खड़े हो गये। ऋषि का प्रसन्नता प्रकट करते हुए स्वागत किया। पाद्य अर्घ्य आचमनीय आदि देकर उनकी पूजा की और एक अत्यन्त सुन्दर रत्न जटित आसन पर मुनिवर को बिठाया।

नारदजी वैसे हैं तो ब्रह्मचारी ही, किन्तु हैं बड़े रसिक, संगीतशास्त्र के तो मानों सर्वश्रेष्ठ आचार्य ही ठहरे। नृत्य विद्या में भी बड़े निपुण हैं। इसीलिये कोई भी इनके सम्मुख संकोच नहीं करते। हँसते हुए नारदजी ने पूछा—"देवेन्द्र, क्या